माध्यम

नववर्षांक

•

मई, १९६९

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

नववर्षांक मई : १९६९
वर्ष ६ : अंक १
निमित्तमात्रं भव पूर्णांक : ६१

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रबंध संपादक
रामप्रताप त्रिपाठी

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया पचीस पैसा
वार्षिक : बारह रुपया पचास पैसा

माध्यम

अंक ६२ में

- स्व० वासुदेवशरण अग्र-वाल, दशरथराज, रमेशचंद्र शाह के लेख

- इंदु वाली, चंद्रप्रकाश पांडेय की कहानियाँ

- 'सहवर्ती साहित्य' स्तंभ के अंतर्गत तमिल की चुनी हुई सामग्री

●●

चरैवेति

प्रस्तुत अंक के साथ 'माध्यम' के जीवन का छठा वर्ष आरंभ होता है। इस दिन को देखने के लिए वह जीवित रहा, क्योंकि उसके भावकों-अभिभावकों ने उसे जीवित रखा। 'माध्यम' उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता है। साथ ही वह आशा करता है कि उनके स्नेह का संबल उसे भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा। बिना जीवित रहे कुछ कर पाना असंभव है, और बिना कुछ करके दिखाये जीवित रखे जाने की माँग या आशा करना निरर्थक है। अतः यदि 'माध्यम' यह माँग और यह आशा करता है कि उसे जीवित रखा जाय तो मुख्यतः अपने जीवन के प्रथम पाँच वर्षों के अपने कार्य के आधार पर ही।

पिछले पाँच वर्षों में 'माध्यम' ने जो कुछ किया वह आपके सामने है। अपने 'सहवर्ती साहित्य' स्तंभ के द्वारा उसने इसका प्रयास किया कि नियमित रूप से, प्रति मास एक को ले कर हिंदीतर (यहाँ 'इतर' शब्द का प्रयोग सामान्य, प्रचलित 'भिन्न' के अर्थ में ही किया जा रहा है न कि 'हीन' के अर्थ में) भारतीय भाषाओं के विपुल वाङ्मय से हिंदी जगत को परिचित रखा जाय। भारत के विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्र एक-दूसरे से जितने परिचित होंगे उतना ही परस्पर नैकट्य का उनका बोध विकसित और दृढ़ होगा, और किसी समाज को सचमुच गहराई से जानने का सर्वोत्तम साधन है उसका साहित्य। इस विश्वास से इस स्तंभ को आरंभ करने की प्रेरणा मिली। वर्ष-दो वर्ष के बाद प्रत्येक अंक में इस स्तंभ को रखना कठिन होने लगा, अतः इसकी नियमितता अक्षत न रह सकी। इसका हमें दुख है। इतना ही नहीं कि हम चाहते हैं कि यह स्तंभ पुनः नियमित हो जाय, वास्तव में हम इसको ही 'माध्यम' का प्रधान स्तंभ बनाना चाहते हैं। यदि 'माध्यम' और कुछ भी न कर सका, केवल हिंदीतर भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण उपलब्धियों से हिंदी जगत को परिचित कराने का कार्य ही कर सका, तो भी उसकी सार्थकता असंदिग्ध होगी, वह कृतकार्य होगा।

इसी संदर्भ में हम अपने 'केरल' और 'आंध्र' विशेषांकों की चर्चा करना चाहेंगे। इन विशेषांकों के द्वारा हमने केरल तथा आंध्र के साहित्यिक-सांस्कृतिक वर्चस्क की झाँकी प्रस्तुत करने की चेष्टा की। हमने स्तरीयता के साथ-साथ प्रामाणिकता को भी अपना लक्ष्य बनाया था, इसकी कांक्षा की थी कि केरल और आंध्र अपने शुभ्रतम रूप में स्वयं ही अपना परिचय दें। अतः केवल उन विद्वानों तक ही अपनी माँग सीमित न रख कर जो स्वयं हिंदी में लिख सकते थे, हमने केरल और आंध्र के जाने-माने अधिकारी व्यक्तियों से लेख माँगे। उन्हें अपनी ही भाषा में लिखने की सुविधा दी, ताकि वे अच्छी से अच्छी चीज़ हमें दें। इन विशेषांकों को जिन्होंने देखा है वे, अन्य बातों के अतिरिक्त, निश्चय ही इससे प्रभावित हुए होंगे कि मलयालम और तेलुगु से हिंदी में सुंदर अनुवाद करने की क्षमता कितनों ने प्राप्त कर ली है। यदि अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में स्तरीय,

साहित्यिक अनुवादों का इसी प्रकार स्वागत किया जाता रहे तो भारत के विभिन्न भाषा-भाषी हिंदी के माध्यम से एक-दूसरे के साहित्य से परिचय प्राप्त करने में सुख और संतोष का अनुभव करेंगे। राष्ट्रभाषा को अन्य सहवर्ती भाषाओं-साहित्यों के बीच संबंध-सेतु बनना ही चाहिए।

हमारी आकांक्षा यह भी है कि हम अपने प्रत्येक अंक का प्रत्येक पृष्ठ अहिंदी-भाषी हिंदी लेखकों की रचनाओं के लिए समर्पित कर सकें। धीरे-धीरे हम अहिंदीभाषी लेखकों की रचनाओं का अनुपात बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं--धीरे-धीरे इसलिए कि हमारा विश्वास है कि यह कार्य यों ही, शनैः-शनैः होना चाहिए। ऐसा न लगे कि एक वर्ग के लेखकों की जगह एक अन्य वर्ग के लेखक आ गये हैं। लेखकों में किसी भी आधार पर वर्ग-भेद स्वस्थ, उचित और वांछनीय हो, हिंदीभाषी और अहिंदीभाषी के अंतर के आधार पर तो कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

हमारा 'विवेचना' स्तंभ चर्चा का विषय रहा है। आलोचना के क्षेत्र में इस स्तंभ ने केवल उल्लेख्य ही नहीं, स्मरणीय महत्व का कार्य किया है। यह केवल हमारा ही नहीं, अनेक पाठकों, लेखकों, आलोचकों का मत है। इस स्तंभ का उपयोग 'माध्यम' यथाशक्य करता रहा है, करता रहेगा, पर इसकी नियमितता के विषय में वह किसी प्रकार का आश्वासन देने की स्थिति में नहीं है क्योंकि 'विवेचना' नाम की गोष्ठी 'माध्यम' से पृथक और स्वतंत्र है। उसके सहयोग से ही इस स्तंभ का प्रकाशन संभव होता रहा है।

अपने विशिष्ट स्तंभों की चर्चा के बाद हमें केवल एक बार फिर अपने सभी कृपालु लेखकों, पाठकों, ग्राहकों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए इतना ही कहना है कि हम आगे ही आगे बढ़ते रहने, सदैव गतिशील, प्रयत्नशील रहने का अपना संकल्प दुहराते हैं :

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥

----संपादक

रवीन्द्र

काव्य और सत्य

लोग बातों ही बातों में कह देते हैं, अजी, यह तो कविता है। उसका भाव होता है कि इसमें सत्य के लिए कोई स्थान नहीं है। यह केवल कल्पना और अतिशयोक्ति तथा शब्दाडंबर से बनी हुई अट्टालिका है, जिसमें सत्य का प्रवेश तक निषिद्ध है। अगर कहीं सत्य इसमें घुसना भी चाहे तो उसे कल्पना के घोड़े पर सवार हो कर वाग्जाल के परिधान में आवेष्टित हो कर घुसना पड़ेगा। साधारण लोगों की यही मान्यता है कि कला का सत्य के साथ कोई संबंध नहीं है। कला—फिर वह चाहे काव्य हो या चित्रकारी अथवा संगीत—इस दुनिया की चीज़ नहीं है। वह हमें जगत की वास्तविक कठिनाइयों से हटा कर कुछ समय के लिए एक परी-लोक में ले जाती है, जहाँ केवल सौंदर्य की ही उपासना की जाती है और जिसका वास्तविकता के साथ कोई संबंध नहीं है। आप तुलसी रामायण में दशरथ-मरण और अयोध्यावासियों के विलाप अथवा लंकादहन का वर्णन पढ़ जाइए, अनीस के मर्सिये पढ़िए अथवा कालिदास की शकुंतला की विदाई का दृश्य देखिए, सबमें अपने ढंग का सौंदर्य है, जिसे देखते ही मुँह से निकल पड़ेगा—यह देखने की शै है; इसे बार-बार देखिए। भीषण और दुखजनक वस्तुओं को भी कविता मनमोहक और सुंदर बना देती है। इसलिए यह धारणा ठीक ही मालूम होती है कि कवि को सत्य से कुछ मतलब नहीं होता; वह अपनी ही दुनिया में रहता है।

इसके विपरीत एक दूसरा पक्ष है। इसका कहना है कि कविता को कल्पना, माधुर्य और सुकुमारता के बंधनों से छुड़ा कर कठोर वास्तविकता के धरातल पर ला खड़ा करना चाहिए। जीवन का चित्रण करते समय हमें यह न भूल जाना चाहिए कि वास्तविक जीवन में सत्यं शिवं सुंदरं की अपेक्षा, क्षुद्रता, दीनता, क्रूरता, कुरूपता, बीभत्सता ही अधिक है, इसलिए कविता और कला में जब तक इन चीज़ों का समावेश न होगा—और वह भी पूरी नग्नता के साथ—तब तक कविता और कला में सत्य के दर्शन नहीं हो सकते और वह एक प्रकार की दूषित मनोवृत्ति और विकृत कल्पना की उपज ही रहेगी। इस पक्ष का कहना है कि मिल-मज़दूरों की कठिनाइयाँ, किसानों का रोना, सड़क पर बहने वाली गंदी नाली और सिर्फ़ सड़क पर बहने वाली ही नहीं, हमारे अंदर की भी गंदी नालियों का चित्रण कविता का मुख्य काम होना चाहिए। सच्चा कवि वह है, जो इस सारी कुरूपता का चित्रण करे, उसके विरुद्ध आवाज़ उठाये और लोगों में भी उसके विरुद्ध विद्रोह की अग्नि धधका दे।

इस प्रकार के वातावरण के कारण 'जुही की कली' के कवि को 'कुकुरमुत्ता' लिखना पड़ा। इस पक्ष को मानने वाले 'सुन लो गर तुममें हिम्मत है, नंगे-भूखों का यह गाना' लिख सकते हैं। उनके पद्यों में बल हो सकता है, एक ओज हो सकता है परंतु उनमें कविता का होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार और भी अनेक मत हैं जो तिमिंगल की भाँति एक दूसरे को निगल जाने का प्रयास करते रहते हैं, परंतु श्री अरविंद जिसे काव्य का सत्य कहते हैं, वह इन बंधनों में जकड़ा जाना स्वीकार नहीं करता।

सत्य कोई मुहरबंद डब्बों में छिपी हुई वस्तु नहीं है। वह एक अनंत देवी है––हम कह सकते हैं कि वह स्वयं अदिति है, देवमाता है। यह शाश्वत, अपरिमेय और सर्जनशील सत्य स्वच्छंद कल्पना से वैर नहीं रखता। कल्पना शायद उसकी सर्जन-प्रक्रिया को रंगीन बनाती है। उसके विभिन्न रूपों, उसके आकारों और उसकी गतियों का कोई लेखा-जोखा नहीं हो सकता। उसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है, बल्कि असीम है और उसके प्रकट होने के मार्ग भी अनंत हैं। कविता इस असीम सत्य के कुछ भाग का दिग्दर्शन कराती है। उसके भाव-प्रकाशन की शैली शक्ति-संपन्न सौंदर्ययुक्त तथा समृद्ध होती है। हमें यह आशा न करनी चाहिए कि सत्य दर्शन की सभी प्रणालियाँ एक-सी होंगी और उनसे सत्य के एक ही रूप के दर्शन होंगे। जैसा हम पहले कह आये हैं सत्य बहुमुखी है, उसके अनंत पार्श्व हैं और हर पार्श्व को व्यक्त करने के लिए प्रणाली भी अलग है। हमें यह सावधानी रखनी चाहिए कि एक प्रणाली की कसौटी दूसरी प्रणाली पर न लगायें। काव्य का सत्य दर्शन, विज्ञान अथवा धर्म के सत्य से अलग है। वह हमारी अनुभूति के एक भिन्न क्षेत्र का चित्रण करता है।

एक कवि दार्शनिक भी हो सकता है। शंकर ने जहाँ एक दर्शन का प्रतिपादन किया है, वहाँ कवि की दृष्टि से भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है। इसी भाँति एक कवि वैज्ञानिक भी हो सकता है, जैसे चरक जहाँ आयुर्वेद की बृहत्त्रयी में ऊँचा स्थान रखता है, वहाँ उसमें कहीं-कहीं उच्च कोटि का काव्य भी है। कबीर, दादू, तुलसी दर्शन, काव्य और धर्म में समान रूप से ऊँचा स्थान पाते हैं। हम दूर न जा कर अपने ही काल के महाकाव्य 'सावित्री' की ओर संकेत कर सकते हैं। वह जहाँ महाकाव्य की सब शर्तों को पूरा करता है, वहाँ श्री अरविंद के सारे दर्शन को, उनके अतिमानस शक्ति और रूपांतर आदि विषयक क्रांतिकारी और मौलिक विचारों का भी वहन और चित्रण करता है।

परंतु ऐसे उदाहरण कम ही हैं, जहाँ दर्शन, विज्ञान और काव्य तीनों का इनमें से कोई दो इकट्ठे हो कर एक स्वर में बोलते हों। कई बार कवि अपने काव्य के द्वारा प्रचार करने लगता है या किसी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। ऐसे समय उसकी कविता काव्य के मंदिर में उच्च स्थान पाने के योग्य नहीं रह जाती। 'भारत-भारती' ने अपने समय में हिंदीभाषी जगत को हिला दिया था, पर स्वाधीन भारत में उसका वह महत्व नहीं रह गया। शुद्ध काव्य की दृष्टि से 'यशोधरा' उससे कहीं आगे बढ़ गयी। अस्तु।

दर्शन शुष्क बुद्धि के प्रकाश में देखता है। वह विचारों की दुनिया में भ्रमण करता है

और भावुकता छोड़ कर विश्लेषण करता हुआ एक-एक क़दम आगे बढ़ता है, साथ ही चारों ओर के झाड़-झंखाड़ को साफ़ करता जाता है और समतल मैदान बनाता जाता है। यह प्रक्रिया एक साधारण बुद्धि वाले के लिए शुष्क, बेजान, नीरस और कठिन होती है, परंतु कवि तो इससे दूर रहना ही पसंद करता है। कवि इसके विपरीत अपनी अनुभूति के आधार पर चलता है। वह शब्द के आनंद और छंद के सौंदर्य को लिये हुए प्रस्फुटित विचार को ले कर उछलता-कूदता हुआ आगे बढ़ता है। वह सुमेरु पर दौड़ते हुए दधिक्रामन की टापों से निकलती हुई चिनगारियों को सँजोता है अथवा धरती पर उड़ते हुए या स्वर्ग की ओर आरोहण करते हुए सप्तवर्णी विचार— के पंखों की फड़फड़ाहट को सुनता है।

एक वैज्ञानिक भी बुद्धिप्रधान पैनी दृष्टि ले कर प्रत्येक वस्तु की छान-बीन करता है। सूक्ष्म वीक्षण करता हुआ प्रत्येक अणु-परमाणु के संबंध को खोजता है, उनके बाह्य रूप और गुण की छान-बीन कर के एक प्रकार का ढाँचा-सा तैयार कर लेता है। परंतु कवि इस प्रकार के विश्लेषण में आनंद नहीं ले सकता। वह अंग-प्रत्यंग को काट कर मेज़ पर नहीं सजाता, वीणा बजाने वाली उँगलियों को काट-काट कर उनके अंदर संगीत की खोज नहीं करता। वह तो समग्र जीवन का प्रेमी है, विश्लेषण नहीं, संश्लेषण उसका क्षेत्र है। वह जीते-जागते, पूर्ण रूप से सुंदर आकार को देखना चाहता है, उसे अंग-प्रत्यंग की परीक्षा करना नहीं सुहाता। विचारशील दार्शनिक और अन्वेषणरत वैज्ञानिक भी आंतरिक स्फुरण के आधार पर चलते हैं, उसके विना उनका भी काम नहीं चलता, पर वहाँ से पायी हुई वस्तु को वे तर्कसंगत, बुद्धिसंगत रूप देते हैं, उसे न्याय अथवा परीक्षण की कसौटी पर कसते हैं और बुद्धिगम्य आकार दे देते हैं, तभी वह वस्तु इन बुद्धिप्रधान लोगों की बिरादरी में बैठने लायक़ हो पाती है। कवि भी उसी उच्चतर भूमिका से स्फुरण प्राप्त करता है। वह पूरी मूर्ति को देखता है, उसके जीवित जाग्रत सत्य का अनुभव करता है, उसके पीछे तालबद्ध गति को देखता है और उसके सौंदर्य से आल्हादित हो कर उसे विविध रंगों का परिधान पहनाता है। कवि का क्षेत्र दार्शनिक और वैज्ञानिक से बहुत भिन्न है और उनके क्षेत्रों का कोई एलची यदि कवि के राज्य में आना चाहे तो पहले उसे कवि के दरबार के नियमों के अनुसार वेश-भूषा स्वीकार करनी पड़ती है।

परंतु उच्चतम स्तरों पर कवि और दार्शनिक मिल जाते हैं। दार्शनिक एक विचार-प्रक्रिया को खोज निकालता है, परंतु वह प्रक्रिया जिस सत्य का अन्वेषण करती है, वह बुद्धि-गम्य नहीं है। उसके ग्रहण के लिए बोध, सतत जाग्रत ऐक्य और सायुज्य आवश्यक है। दर्शन पहले केवल समझने के लिए जानना चाहता है, पर आगे चल कर वह जाने हुए सत्य का साक्षात्कार करना और उसके साथ अभिन्न होना चाहता है। सच्चा कवि भी अपने ढंग से यही करता है। वह भी बोध, कल्पना आदि के द्वारा सौंदर्य के पास पहुँचता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह हमेशा सद्वस्तु का ग्रहण करे, पर यह उसके लिए कठिन नहीं है। हम उपनिषदों में ऐसे बहुत से उदाहरण देखते हैं, जिन्हें देख कर सहसा मुँह से निकल जाता है, यह कविता है या दर्शन— अगर यह धर्म नहीं है, तो धर्म है क्या? उदाहरण के लिए उस रत्नाकर के दो-एक मोती देख लीजिए :

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं, नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

हम वासी उस देस के, जहँ बारह मास बिलास ।
प्रेम-भोर बिकसैं कँवल तेजपुंज परगास ।।
हम वासी वा देश के, जहँ पारब्रह्म का खेल ।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल ।।

इन वाणियों में हम काव्य, दर्शन और धर्म का बड़ा सुंदर समागम देखते हैं। इसी प्रकार जैसे विज्ञान नयी-नयी खोजों में लगा रहता है, पुरानी खोजों को फिर से देख कर आगे क़दम बढ़ाता है, उसी भाँति इन पंक्तियों में भी सत्य की खोज है। कविता अंतःप्रेरणा, सौंदर्य और आनंद की आवाज़ सुन कर लय और ताल के पंखों पर आगे बढ़ती है और हमें भी अपने साथ ऊपर उठा ले जाती है।

धर्म ने कहा, सबके साथ प्रेम करो। अपने शत्रु से भी प्रेम करो। सिद्धांत रूप में सब इसको स्वीकार करते हैं। यह और बात है कि इसे क्रियान्वित कर सकने वाले बिरले ही हैं। यह उपदेश के रूप में बहुत प्रभाव नहीं डालता, परंतु सृष्टि के आधार में निहित एकता का अनुभव कर चुकने पर यह बात बहुत आसान हो जाती है। कवि इसी बात को कैसे रखता है? सोफ़ोक्लीज़ ने अपने नाटक में यही बात एंटीगोनी के मुख से कहलवायी है: 'मेरा जन्म घृणा में साथ देने के लिए नहीं, प्रेम में साथ देने के लिए हुआ है।' यहाँ कवि कोई उपदेश नहीं दे रहा, वह किसी दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर रहा, वह एक विकट परिस्थिति में क़ानून, राज्य आदि के कठोर बंधनों के विरुद्ध सहज प्रेम का विद्रोह दिखा रहा है। पर यह दिखाते हुए भी वह धर्म और दर्शन के पास जा पहुँचता है। शायद वह स्वयं भी नहीं जानता कि वह क्या कह रहा है। आदि कवि वाल्मीकि का उदाहरण भी हमारे सामने है; 'मा निषाद प्रतिष्ठां . . .' कहते समय वे स्वयं नहीं जानते थे कि वे एक महाकाव्य के विशाल भवन की आधारशिला रख रहे हैं।

परंतु हम यह नियम भी नहीं बना सकते कि एक कवि अपने काव्य में इतना रमा हुआ होता है कि वह अपने संदेश की ओर से हमेशा बेख़बर रहता है। यजुर्वेद जब कहता है: **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** अथवा गीताकार जब कहता है:

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।

तो हम यह नहीं कह सकते कि कहते समय कवि के सामने कोई उद्देश्य नहीं था। यह एक बड़ी ऊँची और गंभीर चीज़ है, जिसमें धर्म और दर्शन का समावेश हुआ है : परंतु तत्वतः वह काव्य है, क्योंकि वह असली तत्व को हमारी आँखों के सामने ला खड़ा करता है। वेदों में, उपनिषदों और उत्तर तथा दक्षिण भारत की भक्ति-रस की कविताओं में यह चीज़ भरी हुई है। रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता भी इसी दिशा में चली है। यह कहने में कोई विशेष अतिशयोक्ति न होगी कि असीम सत्य में कम ही चीज़ें ऐसी होंगी, जो काव्य का विषय न बन सकती हों। मानव-ज्ञान के सभी मार्ग अपने स्रोत--दैवी प्रेरणा या उच्चतर प्रेरणा--में आ कर मिलते जाते हैं।

कविता का काम किसी विशेष सत्य का प्रचार करना नहीं है, ज्ञान प्राप्त करना, धर्म-प्रचार करना अथवा नैतिकता-प्रशिक्षण भी कवि का उद्देश्य नहीं है। जैसा हम कह चुके हैं, उसका काम है सौंदर्य को शब्दों का परिधान पहनाना और आनंद प्रदान करना। स्वभावतः इसके द्वारा वह मनुष्य को सौंदर्य के द्वारा आत्मा तक पहुँचाती है। सफल कविता में तीन बातों का होना आवश्यक है। १. अंतःप्रेरणा से प्राप्त दर्शन-शक्ति जो आंतरिक या बाह्य चीज़ों के सत्य को देख सके और उसे अपने शब्दों में मूर्त रूप दे सके। २. काव्य में केवल बाह्य नहीं, आंतरिक जीवन का स्पर्श--इसमें केवल जीवन का प्रतिबिंब नहीं, अपितु जीवन का नवसर्जन करने की क्षमता हो, जो अपने स्पर्श से आंतरिक भावों की--(साधारण प्राणगत भावों को नहीं) तंत्री को झंकृत कर सके। ३. वह उस सत्य की झाँकी हो, जो हृदय की गुहा में छिपा हुआ है, जिसके द्वारा कवि की--और श्रोता की भी--आत्मा सत्य-दृष्टि और सीधे संपर्क के द्वारा वस्तुओं के आंतरिक सत्य तक पहुँच सके।

इस प्रकार की कविता के लिए सहज बोध आवश्यक है और वह वस्तुओं का एक नये प्रकाश में नया दर्शन करा कर हमें आनंद प्रदान करता है। (यह प्रकाश सारे जगत में फैला हुआ है। सारी बात इस पर निर्भर है कि) कवि इस प्रकाश से कितना लाभ उठा पाता है।

(श्री अरविंद के एक लेख के आधार पर)

--संपादक 'पुरोधा', पांडिचेरी-२।

सुविमल बसाक

मस्तिष्क, आँखें तथा घ्राण-शक्ति

ठीक कहाँ से रवाना होना है, यह हम लोगों को पता चल गया था। हम लोगों के शरीर के भीतर लहू क्रमशः गर्म हो रहा था तथा मस्तिष्क में एक विचित्र दर्द महसूस हो रहा था। हम लोग देख पा रहे थे, पानी के दाग़ धीरे-धीरे मिट रहे हैं हमारे ही प्रचंड उत्ताप से। समग्र शरीर को नंगा कर हम लोग छुरा लिये खड़े थे, हृदय को फाड़ कर ऊपर लाने के लिए। ख़ून की धार अब चारों ओर छितर जायगी——हम लोग यह समझ पा रहे थे। हमारी अगली क़तार की पल्टनें उल्टे हथियार पकड़े खड़ी थीं बहुत देर से। शायद वे लोग उसी तरह खड़े रहते मरते दम तक। क्योंकि समय के साथ किसी का भी कोई संपर्क नहीं था। जब ज़मींदारी थी, कारिंदा को ज़मींदारी का काम-काज, कोर्ट-कचहरी समझा-बुझा कर बाक़ी समय दार्जिलिंग, पुरी, मधुपुर, गिरिडीह, इन सब स्थानों पर जा कर काव्य-रचना करना ही अगली क़तार के कवियों का काम था। लिजलिजे मिज़ाज से पूर्व सूरियों की कविताओं में वैष्णव मार्का मिलावट की जा रही थी। ईंट पर ईंट जमाये जा रहे थे, लेकिन महल तैयार करने जैसी मज़बूत ईंटें ढूँढ़े नहीं मिल रही थीं। हरेक की रंगदार मेज़ पर सेंटेड फूल रखने के लिए फूलदानी, दीवार पर रंगदार कैलेंडर, बगीचे में रात की रानी, आसमान पर दूधिया रंग का चाँद, छत, पर बादल तथा दिगंत के आसपास कहीं समुंदर, इंद्रधनुष और ज्योत्सना विराज रही थी। वे लोग सुबह नींद से उठ कर 'बेड-टी' पर हाथ बढ़ाते रेडियो पर भैरव की ताल सुन कर अँगड़ाई लेते, दूध-मिठाई द्वारा दोपहर का भोजन तथा सामान्य तंद्रा, शाम को थोड़ा-बहुत मुक्त वायु-सेवन और लौट कर नियम की तरह पत्नी से प्रेम-ग्रहण——यह सब भी उन लोगों की 'रुटीन' प्रतिभा। वे लोग नाप-तोल कर सुरीले कंठ से बातें करते थे, छंद बना कर पैदल चलते थे और कमरा बंद कर के कविता रचते थे। हाय कविता ; बंगाल में इसी समय एक बार भयंकर रूप से मिट्टी काँप उठी थी—शायद १९५४-५५ का साल होगा। सभी ने अपना-अपना चेहरा खोज निकालने की ज़रूरत का अनुभव किया था। इस समय आधुनिक कवियों द्वारा एक गोष्ठी हुई थी। जीवनानंददास ने इस कवि-सम्मेलन से अंश ग्रहण किया था यहाँ, इस सम्मेलन में हमें सुनने को मिला था——दारुयिनी बन, मायावी आकाश, शीतेर प्रार्थना

बसंतेर उत्तर, नाम रेखेछि कोमल गांधार, आर्केस्ट्रा, संबर्त्त, सागर थेके फेरा, नील-निर्जन, आदि। यहाँ तक कि एक युवक कवि ने अपने ग्रंथ का नाम रखा था—यौवन-वाउल। हमें यह सब पसंद नहीं आ रहा था। सहने की शक्ति भी सी मापर आ कर खड़ी हो गयी थी। दोनों हाथ क्रमशः सख़्त-कठोर हो रहे थे और दोनों जबड़े निर्मम सख़्त हो कर आपस में टकरा रहे थे। हम लोग अच्छी तरह समझ पा रहे थे—इसमें कहीं पर भी सामान्यतम, ख़ून का दाग़ नहीं है। ग्लिसरिन की बूंदें आँखों में डाल कर कातर क्रंदन का उपहास देख रहे थे। अगिया वैताल की बाँसुरी बज रही थी सि—सि। हम लोगों का इस समय की वास्तविक परिस्थितियों के साथ कोई भी संपर्क नहीं है। यहाँ तक कि आक्षेप में भी किसी भी तरह की गर्मी नहीं थी। कविताओं में नारी थी बे-पकड़ी प्रकृति की तरह और पौरुष था बाँका-छैला, चाँद के पास अचानक बादल के टुकड़े जैसा। उन दिनों हमारे नयी-नयी दाढ़ी-मूँछें निकल रही थीं। हम लोग पैंट के अंदर छोटी चड्डियाँ पहनने की ज़रूरत समझ रहे थे और कभी-कभी गले के स्वर के मोटे होने पर ख़ुद ही आश्चर्य में पड़ जाते थे। हालाँकि खुले आम सेफ़्टी रेज़र का व्यवहार भी मना था हम लोगों को। उस पर यह सब विरोधहीन छंद। रामायण, महाभारत, गीता, उपनिषद इन सभी महाकाव्यों और जीवन-दर्शन से हम लोगों को मिली थी समय का सामना करने के लिए ठहरने की रसद, बम-बारूद, आग और इतिहास-बोध से जाग उठा था हम लोगों का रसकसहीन छिन्नहारा फ़ॉर्म। जनाकीर्ण फ़ुटपाथ पर ठोकर खा कर पैदल चलते-चलते, स्टेशन के वेटिंग रूम में भीड़-भड़क्का में 'रिफ़्युजियों' को देख कर, कहीं कुछ नहीं, अचानक किसी को रास्ते पर गिर कर मरते हुए देख कर हम लोगों ने दोनों हाथों से अपना-अपना चेहरा टटोल कर देखा है। हमें कोई 'प्लेटफ़ार्म' मिला नहीं। इन सभी कार-नामों ने ही हम लोगों को भूल जाने को बाध्य किया था : पुराने सड़े हुए मूल्य-बोध। हम लोगों को पता चल गया था। कविता होगी 'स्ट्रेट फ़ार्वर्ड स्टेटमेंट' की तरह। सत्य तथा आत्मा-भिमान-स्वीकृति। कविता आक्रमण करेगी, तोड़-फोड़ कर एकाकार कर देगी अपने को।

जब कि कौए द्वारा हमारा आसमान हर वक़्त गर्मागर्म रहता है—मयूर हमारे राजपंछी हैं। याने इस तरह हमारी नज़र के सामने बेमतलब खड़ा कर दिया गया है अंतराल। इस दीवार के उस पार हमारी श्वास-क्रिया बंद होती जा रही है। इसलिए आंदोलन के प्रारंभ के पहले शोर-गुल में मुखौटा बाँटना ही हमारा अन्यतम पदक्षेप था। अखबार में रोज़ रुटीन बँधे हुए महान-महान पुरुष तथा महान-महान नेताओं की मूल्यवान क़ीमती वाणी और उपदेश सुनते-सुनते हमारे कान सड़ गये हैं। बचपन से सिखायी गयी है अखबार की उपकारिता। जवान हो कर पता चला है एक बात के बहुत से अर्थ होते हैं। लेकिन, इस द्वि-अर्थ की ज़रूरत नहीं है हमें—हम बेलाग कहना चाहते हैं। जो कहना है—उसे सीधा कहना है मानो इस्पात के छुरे की तरह छू जायगी। हमारे पर्चे में इसलिए लिखा गया था : कृपया अपना-अपना मुखौटा उतार लीजिए। अखबार में चित्र देखा था कैसे विचित्र ढंग से फ़ुटपाथ के ऊपर चढ़ आती है स्वाभाविक गतिशील दुदर्मनीय लिलैंड ट्रक—हमारी गर्दन पर आ खड़ी होती है।

१९६२। जाड़े का मौसम। समीरराय चौधुरी के साथ एक कवि यशःप्रार्थी पटना आये थे, मलयराय चौधुरी के पास––कई दिन से लिखा-पढ़ी, साहित्य आदि संबंधी प्रचंड वार्तालाप चल रहा था। मलय अपने दृढ़ सख्त जबड़े ले कर तुमुल चढ़ाई कर रहा था उन पर। जड़त्व से अब मुक्ति पाने की सख्त ज़रूरत है। एक दिन शाम को आख़िरी मंज़िल तक आ रुके हम––हाँ, अब 'हंग्री जेनरेशन' शुरू कर दिया जाय। तहस-नहस कर दिया है हमने हर झूठे-बचकाने लिजलिजे मूल्य-बोध को। हम लोग अकपट स्वीकार करते हैं, हम लोग भी पापी हैं, पाप से ही हमारा जन्म होता है––हम लोग निकृष्ट हैं, हम लोग एक ही गुट के हैं। सिर्फ़ अंतर यह है––कोई धक्के या चोट खा कर छंद की गुदगुदी में घुस जाता है या दोनों हाथ ऊँचा कर विशाल डैने की तरह फैला कर तुमुल आर्तनाद कर उठता है। मलय हाल ही में अर्थ-नीति में स्नातकोत्तर पास कर आया था, इसलिए टटके ख़याल से कविता का दर-भाव अंदाज़ रहा था। उसकी युक्ति थी––हमारे देश के अर्थनीतिक चौखटे की पटभूमि––जो संपूर्ण भारत की होगी, अपनी होगी। गीता के ११ वें अध्याय में २५ वाँ श्लोक उस समय हमारे मन की बात कह रहा था:

> दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि
> दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
> दिशो न जाने न लभे च शर्म-
> प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥

समीरराय चौधुरी की युक्ति थी––सत्य की ओर जाने के लिए हमें हर तरह के बोध खा-पी कर हजम करना ज़रूरी है। आत्मसात करने के बाद हमारे मग़ज़ में जिस बोध का जन्म होत है––वही है सत्य। अपनी स्वभावसिद्ध सरलता से समीर ने एक शिशुसुलभ उदाहरण खड़ा किया था। पृथ्वी गोल है––यह समझने तथा समझाने के लिए भूगोल में एक क्रमअग्रसर-मान तथा क्रमदृश्यमान जहाज़ का उदाहरण है। याने सबसे पहले दिखायी देता है जहाज़ का मस्तूल, उसके बाद शरीर डेक––और जहाज़ जितना ही नज़दीक आने लगता है, उसे हम उतना ही स्पष्ट तथा ज़्यादा देख पाते हैं। एक निर्दिष्ट नैकट्य आते ही जहाज़ संपूर्ण रूप में दृष्टि-गोचर होता है। लेकिन कितने नज़दीक––चरम नज़दीक तो अपने ही भीतर है याने आत्मसात किये बिना या खाये-पिये बिना अब कोई जाने का रास्ता नहीं है। मलयराय चौधरी ने कहा था––हाँ, ठीक ही है, सब कुछ खा लेना ज़रूरी है––हवड़ा का पुल, रवींद्र-सरोवर, मानुमेंट, प्रोसेशन, अस्पताल, सब कुछ, एक-एक कर सब।

'हंग्री जेनरेशन' में हम लोग आ कर जुटे थे सब छन्नछाड़ा के दल। सभी कोई कलकत्ता के शरणार्थी हैं। मलयराय चौधुरी, सुबिमल बसाक, समीरराय चौधुरी आये थे पटना से, देवीराय, त्रिदिव मित्रा हवड़ा से, प्रदीप चौधुरी शांतिनिकेतन से, सुबो आचार्य और रामानंद चट्टोपाध्याय बाकुड़ा से; सुभाष घोष और शैलेश्वर घोष बालुरघाट से, बासुदेव दासगुप्त 'रिफ़्युजी'

हो कर फ़रीदपुर से; और उत्पलकुमार बसु के कहीं घर-दुआर नहीं है––कोई रिश्तेदार तक नहीं है। बाहर से आने के कारण कलकत्ता की राजनीति ने हमारे मन को ठीक कोंचा था, फणीश्वरनाथ रेणु ने इसलिए कहा था : 'हंग्री जेनरेशन' मगही मिज़ाज पर तैयार हुआ है। रेणु जी अपने स्वाभाविक मिज़ाज में हँस उठे थे––यह भी हमारे आंचलिक ही हैं। हमने साहित्य को स्वतंत्र भारत की तरह प्यार किया है। हमने साहित्य को 'ऑक्सीजन' की तरह प्यार किया है। साहित्य को 'पेनिसिलिन' की तरह प्यार किया है। इसलिए हमारे साहित्य में लिखा जाता है :

सोने के बाज़ार में अब युद्ध है व्यापार के बाज़ार में युद्ध है
मानव के जगत में युद्ध, जन्म-नियंत्रण के लिए मेरे मग़ज़ में युद्ध
मैं जानता हूँ अपने पैर से चल कर क्रूस पर चढ़ना ही जीवन है
नारी के पास सो कर व्यर्थता की बातें सोचना ही जीवन है
मेरा जीवन मेरा है, मेरी मृत्यु मेरी है
कविता के नाम प्यार एवं मल-मूत्र के नाम कविता है––
योनि का दूसरा नाम जीवन है––
कविता का पहला नाम धर्म दूसरा नाम आत्मा
मैंने उपदंश रोग से कविता का डंक ज्यादा महसूस किया है
दुनिया में आज आसानी से यक्ष्मारोग के जीवाणु मिलते है

(शैलेश्वर घोष)

हम लोगों ने बहुत कुछ बदलते देखा है। कलकत्ता शहर को देखा––सरसराता हुआ लंबा होता जा रहा है। हम लोगों ने रास्ते पर चलते हुए देखा नियॉन लाइट, फ़्लुरोसेंट रोशनी, ट्यूब रोशनी की नीली-हरी ख़्वाबभरी कल्पना-प्रसारी रोशनी। हमारी आँखें बड़ी जोर से किरकिराने लगीं। नीली-हरी रोशनी हम लोगों में कोई भी सहन नहीं कर पा रहा था। हम लोग इधर-उधर भटकते-भटकते एक दिन सियालदह स्टेशन पर लाल रोशनी देख कर विस्मय में सख़्त-कठिन हो गये थे। हमारा सारा शरीर थरथरा कर काँप उठा था। रेल की सीटी की आवाज़ अचानक इसी समय चीख पड़ी थी––इतने ज़ोर से, कि साधारण मनुष्य भी काँपते हुए सतर्क-सचेतन हो उठा था। शहर के लंबे-लंबे मकान, आलीशान मकान सर ऊँचा कर सूरज को पाने के लिए गुटबंदी करने लगे। पुराने मकान के इलाक़े साथ ही साथ गाँव में रूपांतरित हो गये। लंबे-लंबे मकान के लिए आधुनिक साज-सरंजाम, माल-औज़ार जमा किया जाने लगा। बंगाल के ग्रंथों के नाम रातोंरात बदल गये। हमारी प्रकाशित पुस्तकों के नाम। मृत्युमेधी शास्त्र, आमार चावि, चर्मरोग, जानवर, जख़म, छातामाथा, रंधनशाला, जन्म-नियंत्रण, भग्नांश, आमार अमीमांसित शुभा शवयात्रार, प्रथम चीत्कारकारी, गोलाकृति अधकार, उपनरक, नॉटबोल्टु, अन्यान्य तत्परता ओ आमि––आदि। हम लोग नॉनकन-

फ़ॉर्मिस्ट--सुभाष घोष की 'आमार चावि' या सुबिमल बसाक की 'छातामाथा' पढ़ने पर समझ में आ जायगा। सुबिमल बसाक की 'छातामाथा' बंगला में प्रथम ग्रंथ है, जो शुरू से अंत तक देशज भाषा में लिखा गया। 'साहित्यिक' भाषा के चटपटे वक्ष पर कथ्य भाषा का छुरी दाग दिया है सुबिमल बसाक ने। उसके लेखन में यंत्रध्वंसी तथा मंत्रोत्थान की आवाज़ बंगला देश की पीठ के 'स्पाइनल कार्ड' को हिला-डुला कर बेकाम बना देना चाहती है। सुभाष घोष की 'आमार चावि' ग्रंथ को क्या कहा जायगा, बंगला देश अब तक निश्चित नहीं कर पाया है। किसी एक पत्रिका में इस पुस्तक को काव्य-ग्रंथ रूप में आलोचित किया गया है। दूसरी एक पत्रिका में इस पुस्तक की विज्ञप्ति थी उपन्यास के तौर पर, कॉफ़ी हाउस में कोई-कोई इसे छोटी कहानी के तौर पर चर्चा करते हैं। अब देखा जाय:

शिनाख्त के नियम

१. आपका नाम।

२. असल नाम।

३. पिछले सात साल से व्यवहार किये गये नामों की तालिका :
(क) (ख) (ग) (घ) आदि

४. नाम की लुप्त अंश की सही संख्या : (सिर्फ़ टिक् देना है)
३, ४, ५, ९, १०, ११।

५. आपका नाम नहीं है, फिर भी आप ही का नाम, इस तरह के शब्द, ध्वनि तथा व्यंजनाओं का उल्लेख करें। (चित्र, स्केच, सांकेतिक चिन्ह के व्यवहार अनुमोदित)

६. ध्वनि-विज्ञान, विचार-लिपि-विज्ञान तथा चित्र-विज्ञान के विषय में आपका अर्जित तथा व्यावहारिक ज्ञान है ?
(क) हाँ (ख) नहीं (टिक् देना है)...आदि।

फिर, दूसरी ओर हमारी जड़ मिट्टी के भीतर चली गयी है। मलयराय चौधुरी की 'ज़ख़्म' कविता पढ़ने पर तुरंत पता चलता है।

आदमी ही आदमी को सिखा रहा है ख़ून और सेवा करने के क़ायदे-क़ानून
अपने शरीर के भीतर की ओर आजकल थक कर देख रहा हूँ मैं
मेरी ज़िंदगी मेरा प्यार मेरा ख़ून
चेहरे की चमड़ी के तले मेरी खोपड़ी हर वक़्त मुँह बाये हँस रही है
गर्भ के भीतर से ही सब कोई सीख कर आते हैं अपने अप्राप्त जीवन का क्रम उलटना
भारतवर्ष किसी के बाप का अकेला है कि नहीं मैं जानना चाहता हूँ
एक ही विषय से तैयार हो रहा है झूठा-सच
मेज़ के तले ३५०००० अमलों के घुसभरे स्वराजी पैर नाच उठते हैं रोज़।

लेकिन चारों ओर से धक्के-ठोकर खा कर आज हम लोग सभी कोई संपूर्ण रूप से जान गये हैं कि सम्मिलित रूप से कुछ भी नहीं होता। आखिर सभी कुछ व्यक्तिगत खयाल

पर ही निर्भर करते हैं। यहाँ तक कि समाज, अदालत, देशभक्ति, हिमालय-अभियान, ग्रंथ-रचना, फ़ुटबाल मैच सब कुछ व्यक्तिगत खयाल के प्रतिफल हैं। फलस्वरूप, यौथ मूल्य-बोध, यौथ निरायत्ता, यौथ खम्हार, हम लोगों को किसी भी तरह आश्रय नहीं दे सका। भीड़ में भी हम लोग अकेले ही पैदल चले हैं, सिर्फ़ अपने-अपने पैरों पर। दल-बल के साथ हम लोग एक अलग-अलग मस्तिष्क लिये हुए राजपथ पर घूमते रहे हैं। घूमते-घूमते एक दिन वेलिंग्टन व्यायाम समिति में एक 'बॉक्सर' को देखा था, जो कि ग्लॉव्स पहन कर अकेले शून्य पर मुक्का मार रहा था।

इस सभ्यता, इस संस्कृति से हमें दूर रहना पड़ता है। दूर से ही हम देख रहे हैं—संस्कृति में ९९% मिलावट है। इसलिए संस्कृति, सभ्यता एवं ऐतिह्य लिजलिजे लगते हैं। इसे अस्वीकार कर के ही हम लोग आगे बढ़ रहे हैं परिणाम की ओर—याने ध्वंस की राह पर। कारण हम लोग अच्छी तरह समझ पा रहे हैं कि इस तरह के निसर्ग ने हमारे व्यक्तित्व को घेर रखा है। और हम लोग चाहते हैं इस निसर्गता का जाल फाड़ कर बाहर निकल पड़े। प्रदीप चौधुरी ने लात मारा था :

> **अभिज्ञता नामक जो शब्द हमारे इतने दिनों के**
> **लेखकों की विशेष घमंड या गर्व की वस्तु थी,**
> **उसकी अंतसार शून्यता के भीतर घूमते हुए मैं**
> **सड़ रहा हूँ। विज्ञान तथा यंत्र की क्रमोन्नति का**
> **समाचार तथा उत्साह लक्ष्य कर समझ पाया कि**
> **मनुष्यों के मूलक्षत स्थान कितने गंभीर हैं।**

राजनीति हमारे किसी भी कोने को स्पर्श नहीं कर सकी है। समाज के दायित्वशील पद पर आसीन व्यक्तियों की दायित्वहीनता ने हमें विक्षुब्ध बना दिया है। हमारे टेलिप्रिंटर में अजीब-अजीब तरह की राजनैतिक खबरें आ जमा हुई थीं—सीमांत समस्या से लेकर चैंपियन तक राजनीति किस तरह घुली-मिली है, हम लोग समझ सके थे। इसलिए हमें 'राजनैतिक इश्तहार' निकालना निहायत ज़रूरी पड़ गया था।

१. सभी व्यक्ति की आत्मा को अराजनैतिक बना देना। २. सभी को पता चला देना ज़रूरी है कि अस्तित्व प्राक्-राजनैतिक है। ३. इन बातों की ऐतिहासिक रूप से घोषणा करना है कि राजनीति तीसरे दर्जे के व्यक्तियों को आकर्षित करती है, नांदतिक रूप से समाज के निचले तबक़े वालों को। ४. शीर्षाधीशों के संपर्क में धारणा तथा राजनीति-संपर्कित धारणा गांधीजी की मृत्यु के बाद बदल गयी है। ५. इस बात की घोषणा करना ज़रूरी है कि हर तरह के बुद्धिमत्तायुक्त गोलमाल जिसे 'राजनैतिक तत्व' कहा जाता है, चरम दायित्वहीनता के झूठे भयानक उफान हैं। वर्तमान समाज में राजनीतिविदों का स्थान निर्दिष्ट किया गया है रखेलिन वेश्या में मृत शरीर तथा गदहे की पूँछ के कहीं बीचोबीच। ७. राजनीति से दूर

भागना भी नहीं है और राजनीति को हमारी भयानक ज्वाला का पता भी लगा देना है। ८. किसी भी राजनीतिविद् का कभी आदर नहीं करना है—चाहे वह कोई भी श्रेणी- उद्भूत क्यों न हो। ९. जिन सारे ढाँचों पर राजनीति खड़ी है, उनका पुनर्गठन करना।

हम लोग अनुभव कर रहे थे कि मनुष्यों की सभी अनुभूतियों को आमूल हिला देना चाहिए। इसलिए हमें ज़रूरत पड़ गयी थी आघात करने की, जिसे हम 'धक्का' कहते हैं। इस धक्के के कारण सभी कोई चौंक उठे थे—अपने को साफ़ देख कर डर गये थे सभी। मनुष्यों ने अपने दोनों हाथों द्वारा समग्र शरीर को कोंच कर आविष्कृत किया है अपने अस्तित्व को। चिकोटी काट कर या सिगरेट की आग से शरीर के चमड़े पर फफोले उभार कर जानना चाहते हैं शिरा-उपशिराओं का आर्तनाद। जीवन को इतने दिन मनुष्य के सुख के कारण समझाया गया है। और, दुख-कष्ट ! इन्होंने हटते-हटते बहुत दूर अब डॉक्टर के नुस्खे पर अपनी-अपनी जगह बना ली है। नारी के सामने से हट कर दीवार के सामने या यंत्र के आसपास अपनी-अपनी नाड़ियाँ दाबे हुए हैं।

१९६२ के बाद बंगला साहित्य का ढाँचा पलट गया है रातोंरात। उसके बाद एक साफ़ तरह का बँटवारा हो गया है कवि-लेखकों में :

'हंग्री'	**'इम्पोटेंट'**
समकालीन	**दकियानूसी**
आधुनिक	**अनाधुनिक**
आँवागार्द	**कार्मशियल**
नन कॉनफ़ॉमिस्ट	**एस्टाब्लिशमेंटार**

साहित्य के बदन पर थमाया गया जोरदार मखमली कुर्ता, चौड़े कोर वाली ताँत की बनी हुई धोती, ऊपर से रंगदार सुंदर फूल-बेल-बूटे वाला शाल, मुँह-मुँछ-भौंहों पर लगाये हुए इत्र की ख़ुशबू—सब कुछ नोच डाला गया १९६२ के बाद। फिर समग्र शरीर को एकदम नग्न उलंग कर चारों ओर चूरमार करते हुए आगे बढ़ाया। लकलका कर झुलसने लगी आग, चारों ओर बिखर जाने लगी। जितनी चालबाज़ी, घुड़की, वग़ैरह थी—सब जल-भुन कर खाक हो गयी। हमारी बुनियाद तैयार होती है उच्छृंखल, नीति-बोधहीन, संस्कारमुक्त, स्वाधीन, विवेकहीन, ऐतिह्यमुक्त, स्वाधिकारहीन—इन सबों की माल-मशाला से। हमसे अब लिज-लिजी कहानी या गीत लिखा नहीं जाता। हमारे लिखने की भाषा बदल गयी है, शब्द बदल गये हैं—यहाँ तक कि चेहरा बदल गया है। हमें तीखे, नुकीले और चमकते हुए औज़ार चाहिए। पुरानी मशीन को लथेड़ दिया है हमने, इधर-उधर।

अन्याय, पाप, अधर्म, अविश्वास, शठता, दुर्गंध, कपटता, छलना, जुआ-चोरी, नीतिहीनता, इन सबों के स्वीकार किये बिना कोई जीवित नहीं रह सकता। इन सबों में ही हम पले हैं, और इस स्खलन के लिए हम और गंभीर पाप, अन्याय, नीतिहीनता के भीतर जा रहे हैं। समीरराय चौधुरी ने लिखा :

हर सुबोध गर्भ में
आरण्यक यौन इश्तहार है
प्राथमिक श्वास-तकलीफ़ के साथ
स्पर्श करता है
माता का स्तन
मैं जवान हो गया हूँ इसलिए मेरी प्रपितामही
नहीं है
पुश्त दर पुश्त वे सब अश्लीलता कर गये हैं इसलिए
जीवित हूँ मैं
जीवित है नारी और पुरुष ।

१९६२ के पहले जो लिखा गया और 'हंग्री जेनरेशन' आंदोलन के बाद जो कुछ लिखा गया या लिखा जा रहा है—इन दोनों की तुलना करने पर पता चलता है थप्पड़ और छुरा मारने की यंत्रणा। कौन हंग्री लेख है और कौन इम्पोटेंट लेख है, यह निर्णय करने की दूरबीन याने हमारे लेखों में जिन-जिन 'एलिमेंट्स' के रहने से पता चलता है यह हंग्री लेख है, वह रहा:

१. 'सेल्फ़ कंडेमनेशन'। २. उन्माद व्यक्तित्व या फ़िलहाल असंभाव्यता। ३. सिक्वेन्स तोड़ी हुई अवस्था में। ४. शब्दों तथा वाक्यों की 'डेलिबरेट' एवं सचेतन मिसप्लेसमेंट। ५. कथ्य भाषा। ६. रोमांटिक सेंटिमेंट को एकदम बाद दे कर उसकी जगह पर विराइल रेटिसेंस। ७. ऐतिह्यमुक्तता। ८. ऐग्रेसिव ऐटिच्यूड याने सीधे आक्रमण करने की मनोवृत्ति। ९. आत्म-आफ़ेर्मसिव। १०. इस मुहूर्त के अनुभव। ११. आतमाधिकार। १२. तीव्र गतिधर्मिता। १३. अपने जीवन के प्रति आपोषहीन श्रद्धा। १४. कुछ भी छुपाना नहीं। १५. नन-कॉनफॉर्मिटी। १६. सिर्फ़ अपनी अनुभूति पर विश्वास।

एक परिचित व्यक्ति,—कहीं कुछ नहीं हुआ, मज़े में था, अचानक एक दिन आत्म-हत्या कर बैठा। लोग उसकी बेवकूफ़ी का उपहास करने लगे। लेकिन बाद में उसकी लिखी हुई तमस्सुक पर मृत्यु का कारण पढ़ कर सभी को वाक्‌रुद्ध हो जाना पड़ा। उन्हें पता नहीं था, मृत्यु का इतना स्वाभाविक कारण और कोई हो सकता ही नहीं।

—१६, जस्टिस मन्मथ मुकर्जी रो,
कलकत्ता—९ ।

विष्णु खरे

अंधी घाटी

यहाँ न प्रकाश है न अंधकार न धूप है न छाँह न कोहराम है न सन्नाटा
अंधी घाटी का तो कोई छोर भी नहीं है
सयानों के बीच सूर्य के विषय में अनेक अफ़वाहें फैलती हैं
कुछ लोग कहते हैं कि आजकल वह नहीं उगता।
पैरों में चिपटी हुई जोंकों को खींच फेंकने की अब हिम्मत नहीं है
कभी हमने कोशिश की थी लेकिन सिर्फ़ उनकी दुम टूट कर रह गयी थी
रक्तवाहिनी शिराओं में उनके दाँत ढूँढ़ना बहुत मुश्किल है
और अब तो ख़ास तकलीफ़ भी नहीं होती।
अंधी घाटी में इनसे भी बड़े ख़तरे है।
स्याह धुँधलके में मैंने नीले नाख़ून और बैंगनी मसूढ़े देखे हैं
और रेंगने की ध्वनि सुनी है।
मेरे समीप से अभी कुछ सरका है
जिसकी बदबू-भरी साँस मेरे पेट के गढ़े तक पहुँची है।
हमें अब उबकाई तक नहीं आती।
अंधी घाटी में किसी भी बात के आदी होने में वक़्त नहीं लगता।
हमें सुनायी देती हैं भयावह फुसफुसाहटें विक्षिप्त अट्टहास
और हज़ारों आदिम सरीसृपों के कीचड़ पर खिसकते लिजलिजे पेटों की चिपचिपाहट
छछूँदरों की तरह एक दूसरे के हाथों में हाथ दिये
(हाथ जो कोढ़ी हैं और हाथ जो अब सिर्फ़ डंठल रह गये हैं)
हम अंधी घाटी के तिलचट्टी फ़र्श पर घिसटते हैं
और जब थर्राते हुए पीछे देखते हैं
तो देखते हैं कि फिर एक साथी एकाएक ग़ायब हो गया है
सिर्फ़ एक गूँजती हुई बर्फ़ीली चीख़ डूबती है
और भयावह फुसफुसाहटों विक्षिप्त अट्टहास और खिसकते पेटों की चिपचिपाहट की ध्वनि
गहरी हो जाती है और कुछ देर बाद आती है
छीन-झपट की आवाज़, तिकोने दाँतों से तोड़ी जा रही गोश्त और ख़ूनलगी

हड्डियों के तड़खने की आवाज़ ।
हमारे दिलों पर मौत की दस्तक और धैर्यहीन हो जाती है।
मुझे मालूम है अंधी घाटी का दस्तूर यही है कि रोया न जाय।
लेकिन हम उस आख़िरी चीख़ को सुनते हैं
और जोंकलगे भारी शोणितहीन क़दमों से भागने का यत्न करते हैं।
ख़ून चूसती हुई जोंकें यदि हँस सकतीं तो इस मूर्खता पर अवश्य हँसती।
अंधी घाटी के अंतहीन अंधकार में कोई भाग कर कहाँ जाय!
सयानों ने कई रास्ते बताये थे
किंतु हर बार कुछ दूर जाने पर हमारी ठोकरों से कई कंकाल उखड़ आये
और हमें लौटना पड़ा।
पहले कभी सयाने सूर्य का ज़िक्र करते थे
और हमारी मोतियाबिंदी आँखों में कुछ चमक उठता था
हमारे हाथों में कोंपलें उगने लगती थीं
हम उसाँसें भरते थे और ऊपर यूँ देखते थे
कि यदि दृष्टि कगारों तक पहुँचे तो सूर्य को पी कर ही लौटे।
जब वे सूर्य की बातें करते थे तो ऊपर अँगुलियाँ उठायी जातीं
टोलियाँ बनतीं और दबे स्वरों में मंत्रणा होती।
किंतु सयानों का रुख़ बदला
और अब वे कहते हैं कि अंधी घाटी ही हमारा प्रारब्ध है
उजियाला नाम की कोई वस्तु ही नहीं है और यदि है भी
तो वह हमारे लिए ख़तरनाक साबित हो सकती है
(शायद वे धीरे-धीरे अंधे होते जा रहे हैं।)
उधर अंधी घाटी की पहाड़ियों के शिखरों पर बैठे पहरेदार गिद्ध
हम पर प्रतीक्षामय ऊबी हुई दृष्टि डालते हैं ।
कंदराओं में सुनता हूँ लाखों झिल्लीदार पंखों की फड़फड़ाहट
और अधीर वैंपायरों की चिंचियाहट
नुकीली चट्टानों के नीचे हरी आँखें चमकती हैं।
तिलचट्टी फ़र्श पर क़दम महसूस करते हैं व्यस्त दीमकों की दिनचर्या।
मृत्युहासी नरमुंडों से गिरे हुए केशों के आसपास उगी काई में
देखता हूँ रेंगते हुए बैंगनी और कत्थई चकत्ते।
और अंधी घाटी की छत पर
पीली दृष्टि देखती है लाखों जाल
जिन पर हमारी साँसें धुआँ बन कर जम गयी हैं।
दैत्याकार मकड़ियों की पलकहीन सहस्रों पुतलियों में

हमारे दयनीय भयविक्षिप्त बौने अष्टावक्र प्रतिबिंब हमें तकते हैं।
यहाँ
नीचे
सयानों ने अब नयी अर्चना प्रारंभ कर दी है।
वे दैत्याकार मकड़ियों को अर्घ्य देते हैं
(जालों में झूलते हुए वे मक्खियों के अवशेष नहीं हैं)
और पहरेदार गिद्धों की छाया को चूमते हैं।
वे स्वयं पीछे रह कर स्वतः को समर्पित करते हैं
और अंधी घाटी के देवताओं को जयकारते हुए
'कगारों के पार कोई जीवन नहीं है'
कह कर मृत्यु को स्वीकारते हैं ।
और जो भृकुटियाँ तानते हैं, ऊपर इंगित करते हैं, टोलियाँ बनाते हैं
और दबे स्वरों में मंत्रणा करते हैं
उन्हें धिक्कारते हैं, उनके विषय में दारुण भविष्यवाणी करते हैं अथवा शाप देते हैं।
किंतु टोलियाँ बड़ी होती जाती हैं
दबे स्वर विस्तृत ध्वनि बनते जाते हैं
और जब हम पीछे देखते हैं तो देखते हैं
फिर कोई साथी एकाएक ग़ायब हो गया है
हम थर्राते हुए ठिठकते हैं
लेकिन वह परिचित चीख़ सुन नहीं पाते
न ही देवताओं की जयकार में उसका कंठ।
शायद इसीलिए कुछ दिनों से धुँधली असूर्यंपश्या आँखें देखती हैं
दैत्याकार मकड़ियों के जालों में हलचल।
पहरेदार गिद्ध रोमहीन व्यग्र गर्दनें झुका कर नीचे कुछ खोजते हैं।
लगता है कोई वह जो सयानों में ईमान ला न सका
भाग निकला है शिखरों की ओर
सूर्य की टोह लेने।

•

आंग्ल साहित्य विभाग,
शासकीय महाविद्यालय,
रतलाम (म० प्र०)

श्रीकान्त वर्मा

सड़क पर आदमी

अभी उगा हुआ कुकुरमुत्ता
स्वयं अपना स्वागत
करता हुआ
कुछ सोच रहा है--
किसी को पता नहीं क्या !

शायद वह बदल रहा है, शायद !
अधूरी सड़क पर
अधूरा प्रतीक, शायद !
शायद---समय के शायद---मनुष्य की
अवज्ञा की
जय !

वह कुछ सोच रहा है।
नोच रहा है
वह
अपने बाल
काल
गुब्बारे-सा (या मौन-सा)
उतर रहा है
मैदान पर।
वह केवल एक बार
हँसता है
जहान पर (या
यूँ ही।)
कुछ भी तय नहीं !

'मुझमें लय नहीं'
वह केवल इतना
कहता है
झुंझला कर
सिर हिला कर
(या पत्ते
झरा कर)
अनुमोदन
करता है
एक
एक
पेड़।

●

९४, नार्थ एवेन्यू,
नयी दिल्ली-१।

चन्द्रकांत देवताले

स्थितियाँ

बिना चाय की
प्यासी-प्यासी
स्नेह-स्मरण से वंचित
बड़ी उदासी
अपने ही कमरे में लेते रहो उबासी
ऐसी सुबहें . . .

सूने चौके में दूध बहुत उफनाये
पर कोई हाथ नहीं उतारने आये ।
करवट, बेचैनी, गुस्सा और पसीना
अपने ही गीतों का
गला घोंटने की कोशिशें
ऐसी दुपहरियाएँ . . .

उस दूकान में घुस जाने का मन
यह जीप उलट जाये तो अच्छा
यह लड़की
नहीं नहीं वह
मुझसे टकराये
लूट-खसोट
आगज़नी की इच्छाएँ
ऐसी शामें . . .

प्रजातंत्र
नेताओं की भाषणबाज़ी
हाँफती साँस
विटामीन धन की नाराज़ी

स्वारथ के सब रिश्ते झूठे
और प्रेम की बासी बातें
ऐसी रातें . . .

●

हिंदी विभाग,
माधव कॉलेज उज्जैन (म० प्र०).

प्रेमानन्द चन्दोला

जीवन

ताँगे का टट्टू . . .
हड्डियों के उभार-उभार कोड़ों के घाव
अदृश्य विषाणुओं के पड़ाव ।
आँखों पर पट्टा, मुँह पर लगाम
गर्दन-बदन पर साल व कसमसाती रस्सियाँ
और ऊपर से थुलथुल बोझ की हाँक ।
. . . चिलचिलाती दोपहर का धूप-पसीना चर कर
टूटती काया की अग्र रंध्र-गुहा में . . .
आधी रात को सूखे दो तिनके ठूँस कर
निढाल हो चुभती एक खड़ी नींद ।

●

४९-ई, राजा बाजार स्क्वायर,
नयी दिल्ली ।

निर्मला वर्मा

तीन कविताएँ

उपलब्धि

शारदीय धूप में
हर चेहरा कितना चिकना
साफ़
मौसम का असर
सब पर
मुस्कराहटों की छाप!

अँधेरी गलियों में
लोग कतराते हैं
मैं वहीं हूँ
जहाँ किरन का एक तिनका
सूर्य
छोड़ जाता है . . .

यही क्या कम
कि शबनम-सी बूँद-बूँद
पी रही हूँ रोशनी
चेहरों को भापती
पहचानती
और यह जो तिनके का सहारा :
किनारों का
वही सेतु है।

लोग

कहीं इतने खुश हैं
रंगीन चश्मों में
लोग
कि लगता है
दुख यह
उपहास है।

कहीं इतने
लिप्त
इतने डूबे हैं
लोग
खनखनाती हँसी में
कि लगता है
हम
नहीं
छायाभास हैं।

दृष्टि

. .

एक फूलभरे वृक्ष को
देखा उदास झरते!

फिर देखा
उगते
बढ़ते
कोंपलें कैसे-कैसे
नर्तकियों-सी
(अदृश्य पर्दे के पीछे)

आयीं
  बिहँसी
फिर वे हरी हो गयीं
    पत्ती कहलायीं ।
नंगी डालें भर आयीं
      उछाह से।

फूलों के तब मौसम आये ।

एक दिन देखा वसंत को बैठे
उस पर
  गाते
फूलों का करते दान

दृष्टि
शताब्दियों में तैर गयी।
मैंने देखा उसको:
अपने को

●

आकाशवाणी,
इलाहाबाद।

कहानी

सुखबीर

दो आँखें सुबह को ढूँढ़ें

जेल जैसे उसे निगल जाना चाहता था।

रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी। वह अभी तक सोया नहीं था, दीवार के साथ तकिया रख कर सहारा लिये सामने सलाख़ों के दरवाज़े के बाहर देख रहा था। मौत के ग़ार जैसा वह कमरा जैसे पल-पल तंग होता जा रहा था। छत कितनी नीचे आ गयी लगती थी! कमरे में जलने वाला धुँधला सा बल्ब जैसे बुझता जा रहा था, और उस वातावरण में साँस घुटी जा रही थी।

लेकिन वह अब सलाख़ों से बाहर आकाश की ओर देखता हुआ इस कमरे से बहुत दूर जा चुका था, जहाँ लाखों-करोड़ों तारे थे जो आकाश के असीम विस्तार में बच्चों की तरह हँस रहे थे; चाँद आकाशगंगा में से नहा कर निकला था; धरती पर फ़सलें थीं, और रोशनी से जगमगाते हुए घर और असंख्य लोग थे--ज़िंदगी कितनी दूर-दूर तक फैली हुई थी!

अचानक उसने पेट को दबाया और घुटनों में सिर दे कर गुच्छमगुच्छ हो गया। पसीने से उसका सारा शरीर भीग गया। उसकी अँतड़ियों को जैसे कोई खींच रहा था; जैसे किसी के दाँत उसे चबा रहे थे। और एक ही क्षण में उसकी आँखों के सारे चाँद और तारे और रोशनियों से जगमगाते हुए घर बुझ गये, चारों ओर अंधकार फैल गया और वह उसमें अपना सारा अस्तित्व भूल गया।

सलाख़ों के दरवाज़े के सामने खड़ा संतरी उसको बुला रहा था। काफ़ी देर के बाद उसके सन्न हुए कानों में आवाज़ें रेंगने लगीं। उसने घुटनों पर से सिर उठाया, माथे का पसीना पोंछा, और संतरी की तरफ़ देखने लगा। वह कुछ हल्का हो गया था। कुछ समय पहले का दर्द, जो तलवार की धार की तरह उसकी अँतड़ियों में से फिर गया था, अब पता नहीं कहाँ चला गया था। उसने संतरी द्वारा पूछी कुशलता का जवाब दिया और चुप हो गया। संतरी के बूटों की वज़नी आवाज़ फिर रात के सन्नाटे में इधर-उधर फिरने लगी।

पिछले सप्ताह से उसके पेट का यह सोया हुआ दर्द फिर जाग उठा था। डॉक्टर आता था, दवाई दे जाता था, लेकिन ज़ख्मी अँतड़ियों के उस दर्द को उसके कड़वे पानी से संतोष नहीं होता था। हर बार जब वह उठता तब पहले से कहीं ज़्यादा विफर कर उठता। और उसे लगता जैसे इस बार शायद वह फिर से आँखें न खोल सकेगा।

उसे कमरा और ज़्यादा तंग महसूस होने लगा, जैसे वह पल-पल सिकुड़ता जा रहा था। वह लेट गया और उसने तकिये के नीचे से एक पत्र निकाला। वह उसकी छोटी बहन का पत्र था, जो परसों आया था। 'सेंसर' होने से उसकी कुछ पंक्तियाँ कटी हुई थीं। देर तक कोशिश करने पर भी वह उसे न पढ़ सका। उसे लगा जैसे पत्र पर कटी हुई वे पँक्तियाँ उसकी बहन के शरीर पर संगीन की खराशें थीं। उसने एक बार होंठ भींचे और उसका चेहरा तन गया, लेकिन फिर वह धीरे से मुस्करा पड़ा—बच्चों के पत्र भी जेलों में आ कर, सेंसर होते हैं और उनकी पंक्तियाँ काट दी जाती हैं। आज हुकूमत को कितना डर है। . . . शायद . . नाज़िम हिकमत ने ही लिखा था कि : आज वे (हुकूमत के रखवाले) बच्चों से डरते हैं, बहते हुए पानी से डरते हैं, मुस्कराहटों और गीतों से डरते हैं. . .

उसने पत्र फिर पढ़ा, जिसमें लिखा था कि : उसकी बहन चौथी से पास हो कर पाँचवीं में चली गयी है और इस पास होने की खुशी में वह उससे मिठाई खाना चाहती है। उसके सिर अब दो मिठाइयाँ हो गयी हैं—एक इस बार की और एक पिछले वर्ष पास होने की। (वह तब भी जेल में था।) वह कब आयेगा ? जेल से उसे कब छोड़ा जायगा ? माँ बीमार रहती हैं और रोज़ उसे बहुत-बहुत याद करती हैं और कई बार खाना नहीं खातीं और रोती रहती हैं। छोटा 'गुल्लू' अब बड़ा हो गया है और इस वर्ष स्कूल में पहली में दाखिल होगा। वह सारा दिन पतंग उड़ाता है या गोटियाँ खेलता रहता है। वह कई बार बहुत ऊँची पतंग उड़ाता है और डोरी को इतनी ढील देता है कि आखिर पतंग दिखता तक नहीं। वह कहता है कि जब यह पतंग जेल के ऊपर जायगी तब उसका भैया उसको देखेगा और बहुत खुश होगा, और फिर एकदम जेल छोड़ कर हमारे पास आ जायगा। . . . . .

पत्र की पंक्तियाँ उसकी आँखों की सजलता में तैरने लगीं। फिर उसे पत्र वाला कागज़ ही देखने में आयास लगने लगा। उसने अपनी आँखें पोछीं और फिर से कमरे से बाहर निकल गया; जेल की बाहरी दीवार को, जिस पर बिजली का तार लगा हुआ था, फाँद गया और अपने छोटे से घर में बैठा अपनी माँ से बातें करने लगा, गल्लू को कहानियाँ सुनाने लगा, अपनी बहन को ड्राइंग कराने लगा—पिछले दो वर्षों में बनाये उसके चित्रों को सुधारने के लिए पेंसिल पकड़ कर . . .

उसने पलकें झपकायीं और उसकी नज़र प्लास्टर की हुई अपनी दायीं बाँह पर पड़ी और उसके दिल से एक आह निकल गयी। उसकी टूटी हुई बाँह पर यह तीसरी बार प्लास्टर किया गया था और इस बार भी उसे बाँह के ठीक होने की उम्मीद नहीं थी। इस बाँह पर इतनी लाठियाँ पड़ी थीं कि कई जगह से हड्डियाँ टूट गयी थीं और दो बार प्लास्टर करने पर भी उसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। उसने अपनी अँगुलियों को देखा—जुड़ी हुई वे अँगुलियाँ, जिनमें

कभी वह ब्रश पकड़ा करता था तो रंग मुस्करा पड़ते थे और फूल खिल जाते थे। 'स्कूल ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स' में वह उसका चौथा वर्ष था और प्रिंसिपल को उससे बड़ी आशाएँ थीं। दो बार उसके चित्रों की व्यक्तिगत प्रदर्शनी हो चुकी थी। प्रिंसिपल उसके चित्रों में अजंता की परंपराओं और नये तजुर्बों में से गुज़र रही यूरोप की चित्रकारी को एक नया रूप लेते देखता और कहता कि कोई दिन आयेगा जब उसका वह हाथ ऐसी नयी क़दरें और क़ीमतें पैदा करेगा कि भविष्य . . .

लेकिन वह हाथ आज ज़ख़मी पड़ा था। आज से दो वर्ष पहले वह विद्यार्थियों की एक हड़ताल में नारे लगा रहा था, फ़ीसें बढ़ जाने के विरुद्ध बोल रहा था, और वह जुलूस सड़कों से गुज़र रहा था। . . . फिर पुलिस ने लाठी चलायी थी। उसका वह हाथ, जिसमें फ़ीसें बढ़ जाने के विरुद्ध लिखे नारे वाला 'प्लेकार्ड' पकड़ा हुआ था, आख़िर गिर पड़ा था और फिर उसके साथ वह भी गिर पड़ा था। उसे लगा कि उसके ऊपर कई लाठियाँ उभरी हुई आपस में उलझी पड़ी थीं। चारों ओर लड़के और उनके हाथों में पकड़े हुए झंडे और 'प्लेकार्ड' एक बार किसी गोल चक्कर में घूम गये, धरती डावाँडोल होती प्रतीत हुई और बहुत सारी चीज़ें आपस में खल्तमल्त हो कर एक अंधकार बन गयीं और उस अंधकार में उसे सिर्फ़ अपनी कमर में पड़ती हुई चोटें महसूस हुईं और फिर पेट में एक भयानक दर्द उठा और वह सब-कुछ भूल गया।

जब आँखें खुलीं तब उसने देखा कि वह अस्पताल में था, और उसके दस दिन बाद इस जेल में, इसी कमरे में। बाँह प्लास्टर से मढ़ी हुई थी और पेट में जैसे कोई अँतड़ियों को खींच रहा था या कभी कोई तेज़ धार वाली चीज़ उनको जैसे काटने लगती थी।

उसके पेट में फिर दर्द उठा, अँतड़ियाँ एक दूसरे में उलझ गयीं और फिर कोई अंदर ही अंदर उनको खींचने लगा। वह लेटे से उठा, उसका शरीर पसीने में नहा गया और वह घुटनों में सिर दे कर एकबारगी इकट्ठा हो गया, गुच्छमगुच्छ हो कर गठरी बन गया और थोड़ी देर बाद उसने देखा कि उसकी चीखें सुन कर संतरी फिर दरवाज़े के सामने खड़ा उसे बुला रहा था। लेकिन उसके अंदर और बाहर एक सघन अंधकार जमा हुआ था। एक बार उसे लगा कि कमरा घूम रहा है और उसका दिल जैसे उसकी छाती में से ग़ायब हो गया है। यह अंधकार कितना सघन था! यह रात कितनी लंबी थी! वह देर तक वैसे ही सिकुड़ा बैठा रहा। उसकी अँतड़ियों का यह दर्द दो साल से ऐसे ही चला आ रहा था। पेट और कमर में लाठियों की मार से उसकी अँतड़ियाँ ज़ख़्मी हो गयी थीं और सूज गयी थीं। पिछले दो वर्षों में वह कभी पेट भर कर खाना नहीं खा सका था; उसे कभी जेल की मिट्टी-मिली बाजरे और गेहूँ की रोटी पच नहीं सकी थी। डॉक्टर दवाई देता, कभी कुछ आराम हो जाता, कभी दर्द और बढ़ जाता। जेल की उस फीकी, पतली दाल और चमड़े जैसी रोटियों के सामने दवाइयों का कोई असर नहीं होता था। और इसी तरह इन दर्दों में से गुज़रते हुए उसने दो वर्ष बिता दिये थे और अभी पता नहीं था कि उसकी यह नज़रबंदी कब ख़त्म होगी। सरकार के 'जन सुरक्षा क़ानून' के अंतर्गत उस नज़र-बंदी की कोई मियाद नहीं थी। अगर उस पर मुक़दमा ही चलाया गया होता तो शायद साल-छह महीने की सज़ा अब तक ख़त्म हो गयी होती और हो सकता था कि वह बेदाग़ ही छूट जाता। लेकिन इस 'जन सुरक्षा क़ानून' के अंतर्गत . . . !

उसने एक बार कमरे में नज़र दौड़ायी। ख़स्ता दीवारें, जिन पर जगह-जगह सीमेंट के परत उतरे हुए थे, धुँधली सी रोशनी में बड़ी डरावनी लग रही थीं। ऊपर छत पर एक छिपकली बल्ब के गिर्द उड़ रहे पतंगों को एकटक देख रही थी और जब कभी वह चलती तब उस छत पर से मिट्टी गिरने लगती। उसे महसूस हुआ कि यह कमरा और भी तंग होता जा रहा है और किसी समय भी उसे निगल जायगा। अपनी माँ, बहन, भाई और दोस्तों से दूर वह यहाँ कितना अकेला था! उसका माथा पसीने से गीला हो गया, लेकिन उसी समय उसकी दृष्टि एक कोने में बने चिड़ियों के एक घोंसले की तरफ़ गयी जिसमें शायद दोनों चिड़ियाँ अब सो रही थीं। दिन के समय वह कई बार इन चिड़ियों का यहाँ आना-जाना देखता था। उस घोंसले में उसके अंडे थे। शायद उनमें से अब नये बच्चे भी निकल आये हों! ये चिड़ियाँ, ये अंडे, ये बच्चे! नयी नस्लों को जन्म लेने से आज कौन रोक सकता है! उसने चारों ओर कमरे में फिर एक बार नज़र दौड़ायी और अकस्मात उसके होंठों पर मुस्कराहट दौड़ गयी——यह कमरा क्या मुझे निगल जायगा? यह कमरा जिसमें . . .

उसे याद आया, संतरी ने उसे बताया था कि इस कमरे में आज से कई साल पहले एक बड़ा ख़तरनाक डाकू बंद था। उन दिनों इसका जंग से भरी सलाख़ों वाला यह दरवाज़ा, जो अब दिन के समय खोल दिया जाता है, चौबीस घंटे बंद रहता था। वह डाकू, कहते हैं, कई बड़े-बड़े डाके डाल चुका था और कभी पकड़ा नहीं गया था। पुलिस ने उसके सिर की दस हज़ार रुपये क़ीमत रखी हुई थी। पुलिस के बड़े-बड़े अफ़सर उसके नाम से काँपते थे। कई पुलिस इंस्पेक्टर उसको पकड़ते हुए गोली का निशाना बन गये थे। और उसके बारे में यह भी मशहूर था कि वह कई ज़रूरतमंदों को बड़ी अजीब-अजीब शक्लों में मदद कर जाता था। वह उस कमरे में डेढ़ साल तक बंद रहा और फिर एक दिन सुबह जब सिपाही उसे चाय का प्याला देने के लिए आया तो कमरा ख़ाली था।

उस डाकू के भाग जाने के बाद बहुत समय तक यह कमरा ख़ाली रहा था और सन बयालीस में फिर से आबाद हुआ था। इसमें एक कांग्रेसी नेता आये थे, जो आजकल इस प्रदेश के मुख्यमंत्री हैं। वे ढाई साल तक यहाँ रहे। सामने दीवार पर अभी भी उनका बनाया, किसी कील से कुरेदा हुआ, कांग्रेसी झंडे का हल्का सा चित्र दिख रहा था। कहते हैं पुलिस ने कांग्रेसी नेता से कुछ गुप्त बातों का पता करने के लिए उनको बहुत मारा था और बिजली के शॉक दिये थे लेकिन उन्होंने कुछ नहीं बताया था और ब्रिटिश साम्राज्य के उस मौत के ग़ार में से वे आख़िर अपने खद्दर के सफ़ेद-दूधिया वस्त्रों समेत बाहर आ गये थे।

और अब इस कमरे में वह ख़ुद था। 'बैस्टील' की यह परंपरा अभी ख़तम नहीं हुई थी। वह उन कांग्रेसी नेता के हाथों में, जो पंद्रह अगस्त के बाद इस प्रदेश के मंत्री बने, अभी भी पल रही थी।

और कमरे के बारे में सोचते हुए उसे अपने घर का कमरा याद आया जिसमें वह पढ़ा करता था, चित्रकारी किया करता था। उसमें कितना सौंदर्यभरा जीवन था, लेकिन इस कमरे में कैसी नहूसत है; मौत की छाया! उसका हृदय घृणा से भर गया——वह घृणा जो उसके

अंदर से इस प्रकार उठी कि वह फिर पेट को पकड़ कर इकट्ठा हो गया। उसकी अँतड़ियाँ जैसे किसी ने खींच डाली थीं और कोई उनके टुकड़े-टुकड़े कर रहा था। उसकी साँस खिच गयी, आँखें फटने लगीं और शरीर पसीना-पसीना हो गया और चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखायी देने लगा। समय जैसे रुक गया था। और रात कितनी लंबी, कितनी अँधेरी और कितनी डरावनी थी !

अचानक उसने देखा आकाश में चाँद बादलों को चीरता हुआ दौड़ा जा रहा था और आकाश की ऊँचाइयों में एक पतंग उड़ रही थी। गुल्लू कितना खुश था कि उसका भैया छूट कर आ गया है। उसने तालियाँ बजायीं। उसकी माँ ने उसके पेट पर धीरे-धीरे मीठे तेल की मालिश की और फिर दूध में फेनियाँ डाल कर उसके लिए लायीं और वह धीरे-धीरे बड़े स्वाद से खाता रहा। फिर जल्दी-जल्दी तैयार हो कर वह कॉलेज गया। प्रिंसिपल के माथे पर इस बार एक शिकन थी, लेकिन उसने इसकी कोई परवाह न की। वहाँ से वह शाम को यूनियन ऑफ़िस में गया और कुछ 'पोस्टर' बना कर जब घर पहुँचा तब उसकी बहन मिठाई की दो टोकरियाँ लिये उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने कितने अर्से के बाद मिठाई खायी थी ! --बर्फ़ी, अमिर्तियाँ, गुलाबजामुनें और बालूशाहियाँ। फिर उसकी बहन ने उसे अपनी ड्राइंगें दिखायी थीं। उनमें एक जेल का चित्र था। वह मुस्कराया ! . . . . फिर उसने अपने कमरे में बिखरे हुए ब्रश और रंग सम्हाले और दीवारों पर लगे हुए कई चित्र अदले-बदले और एक तरफ़ कला संबंधी रखी हुई पुस्तकों में से एक पुस्तक उठा कर पढ़ने लगा, और देर तक पढ़ता रहा। और फिर जब नींद आने लगी तब उसने पुस्तक छाती पर ही रख कर आँखें बंद कर लीं।

सुबह हो गयी थी। संतरी ने दरवाज़ा खोला। लेकिन वह अपनी आदत के मुताबिक़ अभी तक सो रहा था। फिर अपने नियत समय पर डॉक्टर आया। उसने अंदर जा कर उसका हाल पूछा और फिर उसके पास बैठ कर नब्ज़ देखी--डॉक्टर को नहीं पता था कि वह तो रात ही आख़िरी बार खून थूक कर वहाँ से चला गया था, और अब अपने घर या कॉलेज या यूनियन के ऑफ़िस में हँस-बोल रहा था, काम कर रहा था . . .। डॉक्टर ने उसकी बाँह धीरे से रख दी--वह हमेशा के लिए सो चुका था।

--सायर भवन,
आज़ाद रोड,
विले पार्ले, बंबई--५७।

ललित निबंध

●

ना० नागप्पा

ताँगा

ताँगा शाहीं वाहन है ग़रीबों का। मोटर अमीरों के बूते की चीज़ है। जीप शरीफ़ों की नज़र में बेहया लोगों की सवारी है, पर कामकाजी अफ़सरों की अफ़सराना गाड़ी है। मैं अक्सर ताँगे पर चला करता हूँ।

ताँगे का अपना घर होता है––यही ताँगे का अड्डा है और ताँगे वाली घोड़ी का मायका। राह चलते, बीच में ताँगे का अड्डा मिल जाय तो घोड़ी तुरंत रुक जाती है और वहाँ से हिलने का नाम नहीं लेती। वह अपने भाई-बहनों की कुशलता (अपनी मूक भाषा में) पूछते-पूछते वहीं खड़ी हो जाती है और वहाँ से तभी चलती है जब ताँगे वाला अपने चाबुक की मार से उसकी खबर लेता है––सो भी पाँच-दस मिनट बाद ही। तब तक ताँगा अड्डे पर ही घूमता रहेगा। बहुत ज़्यादा घोड़ी को दिक किया नहीं कि घोड़ी चारों खूँटे चित हो जाती है और ताँगे पर सवार लोगों की शामत आ जाती है। आप जल्दी में हैं। ट्रेन पकड़नी है। पंद्रह मिनट बचे हैं। उस समय अड्डे पर जाइए, एक भी ताँगा न मिलेगा। मिलने पर भी घोड़ा इतने धीरे-धीरे चलेगा कि बस, गाड़ी स्टेशन से चलने लगेगी तब जा कर ताँगा स्टेशन पहुँचेगा।

आपको ठीक दस बजे कॉलेज जाना है। अगर ताँगा सीधे रास्ते से चलता तो दस मिनट में आप कॉलेज पहुँच जाते। पर नहीं, ताँगे का घोड़ा घुमावदार सड़क पर सरपट दौड़ पड़ेगा। लगाम थामते-थामते ताँगे वाला हैरान हो जायगा, तब कहीं दस बज कर पाँच मिनट पर आप कॉलेज पहुँचेंगे।

शाम के साढ़े पाँच बजे से सात-साढ़े सात बजे तक बसों में जगह मिलना मुश्किल होता है। बस के अड्डे पर, चौक तक, चार-चार सवारियों से अपने ताँगों की शोभा बढ़ाते हुए ताँगे वालों का, एक के पीछे एक, जुलूस निकलता है। तब देखिए, घोड़ों में न जाने कितनी चुस्ती आ जाती है। शायद घोड़े-घोड़े में जातीय स्पर्धा हो जाती है। आप जल्दी ही चौंक पहुँच जाते हैं।

रात के बारह बजे हैं। सिनेमा का दूसरा 'शो' खत्म हुआ है। 'आइए बाबू जी, शहर... दो सवारी!' की हाँक सुन कर आप ताँगे पर सवार हो जायँ। सिनेमा का गीत घोड़े को सुनाता ताँगे वाला ताँगा हाँकता जाता है और घोड़ा भी गीत का स्वाद लेता हुआ, मंद-मंद चाल से, चलता जाता है।

शादी का मौसम है। ताँगे के घोड़े को भी मौसम का ख्याल हो आता है। दूल्हे-दूल्हन की तरफ़ के लोगों को ले कर ऐसी शान से ताँगा चलता है, घोड़ा जैसे यह समझ रहा है कि उसकी ही शादी हो रही है। वह अपनी गर्दन बायें या दाहिने घुमाये हुए सरपट दौड़ता जाता है। ताँगे पर बैठे हुए लोगों को भी मज़ा आ जाता है।

आपको साढ़े दस बजे अदालत जाना होता है। घोड़ा मिलेगा बूढ़ा। वह एक-एक पग रुक-रुक कर चलेगा क्योंकि वह शादी के जुलूस का अभ्यस्त है। उसे क्या पता कि आपको ताँगा आदलत ले जाना है। घोड़े को चाबुक की मार पर मार पड़ रही है, फिर भी वह बिना चावी लगी ग्रामोफ़ोन-प्लेट की तरह ही चलेगा।

आपको बीवी-बच्चों के साथ हवाखोरी को जाना है। घोड़ा इस क़दर तेज़ी से दौड़ रहा है कि उसकी चाल पर क़ाबू पाना मुश्किल है। इधर बच्चे माँ की गोद में उछल-उछल कर अधमरे हुए जा रहे हैं, उधर घोड़ा सर पर पाँव उठाये दौड़ा जा रहा है। पर उस बेचारे का क्या दोष! परसों तक वह घुड़दौड़ में दौड़ाया जाता रहा है। दौड़ वाली ज़िंदगी को खत्म हुए अभी दो ही दिन हुए हैं। ताँगे वाली ज़िदगी की अभी शुरुआत ही है। घोड़ा अभी ताँगे से अभ्यस्त नहीं है।

कभी-कभी घोड़ा ताँगे पर सवार असामियों की बातें समझता है। एक बार मृत पति के विमान के पीछे पत्नी को श्मशान तक जाना पड़ा। घोड़े ने पति-विहीना नारी को ज़ार-ज़ार रोते देखा नहीं कि वह भी क़दम-पर-क़दम चलने लगा, जिससे उस स्त्री को रोने का काफ़ी समय मिल जाय।

कभी-कभी ताँगों की दौड़ होती है। घोड़े चुस्त—टप...टप...टप...टप... दौड़ने वाले—तब ताँगों की होड़ देखते ही बनती है, यूनानी रथों की होड़ की याद आती है।

नवविवाहित पति-पत्नी ताँगे पर सवार हो कर मधुचंद्र (हनीमून) मनाने निकलते हैं। उन्हें ललिताद्रि[1] जाना है। वे न जाने क्या-क्या कभी न खत्म होने वाली बातें करते जा रहे हैं। ताँगे का घोड़ा उन तमाम बातों का रस लेता हुआ ललिताद्रि जा रहा है। ललिताद्रि पहुँच कर घोड़ा सुस्ताता है। दंपति प्राकृतिक दृश्य का आनंद लेते हुए इधर-उधर चहक रहे हैं। घोड़ा घास की जुगाली करता हुआ खड़ा-खड़ा एक नींद सो लेता है। उसे तभी होश आता है, जब ताँगे वाले की मार पड़ती है। वह सम्हल जाता है और सवारों की रसीली बातें सुनता-सुनता उन बातों की ताल पर चलता है। सवार भी ऐसे बोलते चले जाते हैं, जैसे उनकी बातें और लोग भी सुनेंगे, इसका उन्हें खयाल ही न हो।

---

१. ललिताद्रि मैसूर नगर के आग्नेय में पड़ने वाली पहाड़ी है, जिससे चामुंडा पहाड़ लगा हुआ है।

एक बार हम लोग संगीत सुनने ताँगे पर राम-मंदिर गये। रमाविलास-अग्रहार के पास घोड़ा बिदक गया और जा कर सीधे ट्वाय-पैलेस के सामने खड़ा हो गया। वह घोड़ा पहले ट्वाय-पैलेस[1] के पास के एक आदमी का था। वह रोज़ उसे वहाँ बाँधे रखता था और पुरानी याद घोड़े को भुलाये नहीं भूलती। मालिक बदलने पर भी उसे पुरानी बातों का स्मरण बराबर बना रहता है। घोड़े और ताँगे को वहीं छोड़, हमें राम-मंदिर तक पैदल जाना पड़ा। और करते भी क्या !

एक अजनबी मैसूर आया। शायद कनाडा से आया था। उसे जाना था होटल मेट्रोपोल, जो स्टेशन से एक फ़र्लांग के फ़ासले पर स्थित है। मुश्किल से पाँच मिनट का रास्ता है। ताँगे वाले को सूझी कि इस मौक़े पर कम से कम पाँच रुपये मार लेने चाहिए। सो घोड़े को सयाजी-राव रोड, हार्डिंग्स पार्क, चामराज रोड, झाँसी रानी लक्ष्मीबाई रोड हो कर मेट्रोपोल होटल पहुँच कर पाँच रुपये ऐंठ लिये। दूसरे दिन नवागंतुक को ताँगे वाले की शैतानी का पता चला।

घोड़े को जगह की ही नहीं, वक़्त की भी खूब जानकारी होती है। रोज रात के साढ़े ग्यारह बजे एक ताँगा शिवराम-पेठ की एक गली में किसी के यहाँ जाता और दो घंटे वहाँ के काम के बाद, वापस लौटता। संयोग की बात, वही घोड़ा ताँगे में जुता है। उसी ताँगे पर लगभग उसी वक़्त, रात में होने वाली ज़च्चा पहुँचायी जा रही है अस्पताल। शिवराम-पेठ की उस गली के पास आते ही घोड़ा अपने चिरपरिचित स्थान पर, रोज़ वाले समय पर, रुक जाता है और दो घंटे बदस्तूर रुका रह जाता है——हिलने का नाम नहीं लेता। इधर सवार गर्भिणी स्त्री के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं। तुरंत दूसरा ताँगा लाया जाता है और उसे अस्पताल पहुँचाया जाता है। तब किसी तरह गर्भिणी की जान बचती है।

पानी बरस रहा है। उस समय आवश्यक काम आ पड़ा। जाना है बाज़ार। ताँगा लिया। चलते ही ताँगे की छत टपकने लगती है। चारों तरफ़ से पानी ही पानी है। बस भीगते चले जा रहे हैं। ताँगे की छतरीनुमा कपड़े की छत बीच-बीच में फटी, पैबंद लगी है और इसकी सज़ा भुगते ताँगे पर बैठने वाला !

कुछ ताँगे ऐसे सजे-बजे रहते हैं, जिनके अंदर बग़ल में लैला-मजनू, राजा-रानी, सुग्गा-सुग्गी बने रहते हैं। किसी ताँगे में आपको ताजमहल ही चित्रित मिलेगा। ताँगे के बाहर सिनेमा-पोस्टर लटके रहते हैं।

घोड़े की लगाम, पट्टी सब चुस्त और दुरुस्त हैं। पहिये की पट्टी बीच में फटी है। ऐसे ताँगे पर बैठिए तो मिनट-मिनट पर आपको पाताल में पहुँच कर फिर धरती पर आने का विचित्र अनुभव होता है।

घोड़ा, गाड़ी, ताँगे वाला——सब ठीक हैं। पर भोंपू या घंटी नहीं है। ऐसे में, "बचिए... इधर जा भाई...हट जा...बायें बाबू जी...दाहिने माँ जी... चल बे अंधे, क्या घर में

---

१. मैसूर नगर में ट्वाय-पैलेस एक घर का नाम है, जिसमें बच्चों के खिलौने बनाये और बेचे जाते हैं।

झगड़ा है, जो पहिये के नीचे दबा चाहते हो' की लगातार हाँक लगाता हुआ गाड़ीवान ताँगा हाँकता चला जा रहा है। आपको भी रस मिलेगा––कुछ नये-नये मुहावरों के उदाहरण मिल जायँगे।

रात के समय ताँगे में एक दीप का होना ज़रूरी है। दीप तरह-तरह के हैं। किसी के पास मिट्टी के तेल वाली कुप्पी कंदील में बंद है। मैले-कुचैले काँच में से निकलने वाली लाल-लाल रोशनी गाड़ीवान को क़ानून के शिकंजे से बचाने के लिए पर्याप्त है। किसी-किसी ताँगे में मोमबत्ती (दो या चार पैसे की) रहती है। वह उस चौमुहानी के पास जलायी जाती है। जहाँ पुलिस वाले के खड़े रहने की आशंका या संभावना रहती है। उस चौमुहानी के पार होते ही मोमबत्ती बुझा दी जाती है।

एक बूढ़ा ताँगे वाला मुझे ऐसा मिला था, जो उस पर बैठने वाले समस्त लोगों के क़िस्से सुनाया करता था। कहता था, "सा' ब, आजकल की लड़कियाँ क्या हैं, बेपर की परियाँ हैं। वे जो न करें, थोड़ा है। उनकी कहाँ-कहाँ पहुँच रहती है, आपको क्या पता ! घर से जैसे निकलीं, वैसी आबरू-इज़्ज़त लिये घर वापस पहुँच जायँ तो ग़नीमत समझिए ! ये कॉलेज, ये स्कूल, ये सिनेमा, ये ड्रामे, ये डांस, ये ट्रिप, यह सैलानी हवा, यह ज़माना ही खराब है, सा' ब। मुँह पर पर्दा नहीं, दिल में शरम नहीं, इज़्ज़त क़ाबू में नहीं ! न घर की फ़िक्र, न ख़ुदा का डर। सा,ब' ज़माना बहुत ख़राब हो गया है।"

एक और ताँगे वाला, अधेड़ उम्र का है। वह सरकार को जी भर कर कोसता है, कहता है, "देखिए सा' ब, इसी . . .को मैंने अपनी गाड़ी पर कई मर्तबे मुफ़्त में अदालत पहुँचाया है। साले के पास किराया देने को पैसा नहीं होता था। आज वही मिनिस्टर बन गया है। उसकी गर्दन पर सर नहीं टिकता। ऐसे-ऐसे लोग मिनिस्टर हैं तभी चावल-दाल का यह भाव है। दस गुना मँहगी हो गयी है। घास रुपया गट्ठर, सो भी सूखी, पानी का नाम नहीं। देश से धर्म-कर्म सब ग़ायब। तभी अकाल पड़ रहा है। जीना दुश्वार हो गया है।"

बाज़ार से चौक जाने वाले ताँगे चार-चार सवारियाँ बस-भाड़े पर बिठाये लिये जा रहे हैं। पीछे की सीट पर पति-पत्नी हैं। आगे की सीट पर दो और सवारियाँ हैं। पत्नी पति को आड़े हाथों ले कर खरी-खोटी सुना रही है, "जाने तुमको कब अक़्ल आये ! सारे घर को खिलाने का एक तुम्हीं ने ठेका ले रखा है ? क्या तुम्हारे और भाई मर गये हैं ? कितनी ही बार मैंने तुमसे कहा है कि अपनी चार-चार सयानी लड़कियाँ हैं। उनकी कोई चिंता ही नहीं। मस्त-मौला बने फिरते हो। माँ के सामने भोलानाथ बन जाते हो। तुमको तो मेरी बात ज़हर लगती है। मैं यह सब देखूँ भी तो कैसे ?" उनको पता ही नहीं कि और भी दो-तीन आदमी ताँगे पर बैठे उनकी बातें सुन रहे हैं।

हमारे ताँगे वाले कभी तय किया गया किराया नही लेते। गंतव्य स्थान पर पहुँच कर झगड़ा शुरू करते हैं––"सा' ब, सिद्दप्पा स्क्वेयर तक किराया ठहराया था। आप आ गये दवाख़ाने के पास।"

"हाँ भाई, घर सिद्दप्पा स्क्वेयर में ले जा कर तो नहीं रख सकते।"

"वहाँ से यहाँ तक दो आने किराया ज़्यादा लगेगा।"

"सभी ताँगे वालों को हम सिद्दप्पा स्क्वेयर ही बताते हैं।"

"पर आपको अंग्रेज़ी दवाखाना बताना चाहिए था।"

"बस भाई, आइंदा ऐसा ही करेंगे। अब तो चलो, मामला खत्म करो।"

"दस पैसे और दीजिए।"

"अब एक भी पैसा और नहीं मिलेगा।"

"हम ज़्यादा पैसा ले कर ही जायँगे।"

"देखें कैसे लेता है!"

बस, तू-तू मैं-मैं के बिना ताँगे वाले हटते ही नहीं। कुछ शहरों में ताँगे वाले बड़े शरीफ़ हैं। लेकिन कुछ जगहों की आबोहवा की जाने क्या तासीर है कि ताँगे वालों का दिल झगड़े के बिना चैन ही नहीं पाता।

ताँगे पर चलिए। सारी दुनिया से परिचित हो जायँगे। कौन किस वक़्त कहाँ जाता है या जाती है, क्यों जाता है या जाती है--सब बातों की खबर ताँगे वालों के पास मौजूद रहती है। आदमी को जैसे ताँगे वाले पहचानते हैं, वैसे हम भला क्या पहचान सकेंगे!

--हिंदी प्रोफ़ेसर,
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

रामप्रताप त्रिपाठी

संस्कृत के आदि नाटककार भास के कुछ चित्र

महाकवि भास संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार थे। कई सौ वर्षों तक लुप्त रहने के बाद सन १९०९ ई० में उनकी अनवद्य रचनाओं का पता दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान महा-महोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री को लगा और उन्होंने बड़े परिश्रम तथा वैज्ञानिक विवेचन के साथ उन्हें संस्कृत काव्य-रसिकों के बीच प्रस्तुत किया। अनेक वर्षों तक भास और उनकी कृतियों के संबंध में विवाद चलता रहा। कुछ विद्वान उन रचनाओं को किसी अन्य कवि की कृति मानते रहे और कुछ इन्हीं की। कुछ विद्वानों का मत तो यह रहा कि भास नाम के कोई कवि या नाटककार थे ही नहीं और ये प्राप्त रचनाएँ किसी अन्य कवि की हैं। भारतीय विद्वानों का बहुमत यह है कि महाकवि भास कालिदास के पूर्ववर्ती थे, जैसा कि 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में 'भास' के उल्लेख से प्रकट होता है।

भास के ये तेरह नाटक अपनी अनेक विशेषताओं के कारण संस्कृत के अन्य नाटकों की अपेक्षा कुछ विचित्र से हैं। इनमें संस्कृत के नाटकों की भाँति कोई प्रस्तावना नहीं है और न कहीं अन्यत्र ही लेखक ने अपने नाम का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, इनमें से अधिकांश की आरंभिक वर्णना-शैली एक-सी है तथा घटनाओं का क्रम भी बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इनका आरंभ प्रायः सूत्रधार ही करता है और नांदी का उल्लेख मात्र मिलता है। इनकी भाषा अतीव सरल, सरस तथा प्रवाहपूर्ण है। इससे अनुमान यही होता है कि उस समय संस्कृत पंडित-समाज की सामान्य भाषा थी और कम पढ़े-लिखे लोगों में अथवा स्त्रियों आदि के बीच प्राकृत भाषा प्रचलित थी। भास ने एक स्थान पर इसकी चर्चा भी की है।

भास के अस्तित्व एवं उनकी इन रचनाओं के संबंध में आशंकाएँ उठाने वालों के तर्क बड़े विचित्र हैं। उनके पक्ष और विपक्ष में अब तक अत्यधिक प्रमाण एकत्र हो चुके हैं। प्रस्तुत संदर्भ में उनको उद्धृत करना अनावश्यक होगा। हमारा तो केवल यही कथन है कि जिस महा-कवि की प्रशंसा स्वयं कविकुल-गुरु कालिदास ने मुक्त कंठ से की है तथा राजशेखर, अभिनव गुप्त, वाणभट्ट, वामन, जयदेवादि ने जिसका सादर उल्लेख किया है, उसके अस्तित्व की अस्वी-कृति दुराग्रह एवं पक्षपात से पूर्ण है। रह गयी इन उपर्युक्त कृतियों के संबंध में भास के कर्तृत्व की बात, यह एक जटिल प्रश्न है। क्योंकि कालिदास की भाँति भास को अपने कर्तापन का अभि-

मान नहीं था, उन्होंने व्यासादि वैदिक ऋषियों की भाँति अपने नाम को अपनी कृतियों से अलग रखा था। अतः आज सहस्रों वर्षों के बाद व्यासादि की कृतियों की भाँति उनके कर्तृत्व के संबंध में कुछ भी 'इदमित्थं' कहना उचित न होगा। किंतु यह कहना तो निरापद है कि जब तक किसी अन्य रचयिता के संबंध में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता, तब तक भास को ही इनका रचनाकार मानना सर्वथा उचित है, जैसा कि हमारे देश एवं विदेश के दर्जनों समीक्षकों एवं विद्वानों का भी मत है।

भास का समय भी इसी प्रकार निर्विकल्प नहीं है। महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने तो इन्हें पाणिनि तथा चाणक्य से भी प्राचीन माना है। कुछ लोग इन्हें ईसा की दूसरी शताब्दी का मानते हैं, तो कुछ लोग पाँचवीं और छठीं शताब्दी का। किंतु इतना तो निश्चित ही है कि यह कालिदास से भी पुराने थे और संभवतः संस्कृत के सभी नाटककारों से पुराने थे।

भास की नाट्य-कला अपने ढंग की अनूठी है। उनकी भाषा में भी वैचित्र्य है और उनके संवादों में भी। छंदों की बहुलता के कारण आज के काव्य-रसिकों को उनकी नाट्य-रचनाएँ कुछ फीकी लग सकती हैं। किंतु जिस युग में भास विद्यमान थे, उस युग में विज्ञान एवं दर्शन, अध्यात्म एवं योग की रचनाएँ भी छंदोबद्ध ही होती थीं। गद्य का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर किया जाता था और जनता का जीवन छंदोमय हो गया था। न केवल नाटकों के संवाद ही छंदोमय होते थे, वरन प्रस्तुत संदर्भों पर एक ही छंद में चार-चार पात्रों के संवाद संपन्न हो जाते थे। भास के गद्य एवं पद्य, दोनों ही शैलियों में प्रयुक्त वाक्यों की छटा निराली है। हैं तो वे बहुत ही छोटे-छोटे, किंतु उनके भाव की गंभीरता के साथ-साथ स्वाभाविकता तो पदे-पदे प्रस्फुटित होती है। कृत्रिमता एवं शिथिलता तो कहीं दिखायी नहीं पड़ती। प्रशंसनीय सरलता, बोधगम्यता एवं सर्वांग सुंदरता से पूर्ण भास की इन रचनाओं से इतना तो प्रकट ही हो जाता है कि भास के समय में भी भारतीय नाट्य-कला का पर्याप्त विकास हो चुका था। और नाटक केवल राजा-महाराजाओं के मनोविनोद का साधन मात्र नहीं था, प्रत्युत उसके द्वारा समाज की सर्वतोमुखी मनोवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का भी परिचय दिया जाता था। आधुनिक मनोविज्ञान का उस युग में विकास भले ही न हुआ रहा हो, किन्तु पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण करने से इतना सुस्पष्ट हो जाता है कि रचनाकारों को अपने विविध प्रकार के चरित्रों के स्वाभाविक चित्रण में कितनी सतर्कता एवं सूझ-बूझ रखनी पड़ती थी।

भास के जिन तेरह नाटकों की आज चर्चा की जाती है, वे इस प्रकार हैं: (१) दूतवाक्यम्, (२) कर्णाभरणम्, (३) दूतघटोत्कचम्, (४) मध्यमव्यायोगः, (५) पंचरात्रम्, (६) ऊरुभंगम्, (७) अभिषेकनाटकम्, (८) बालचरितम्, (९) अविमारकम् (१०) प्रतिमानाटकम्, (११) प्रतिज्ञायौगंधरायणम्, (१२) स्वप्नवासवदत्तम् तथा (१३) चारुदत्तम्, । इन तेरह नाटकों में सौ से अधिक पात्रों की सृष्टि हुई है, किंतु दो-चार अपवाद-स्थलों को छोड़ कर प्रायः सभी पात्रों में अपनी कोई न कोई स्वाभाविक विशेषता अवश्य दिखायी पड़ती है। इन सबमें वर्णित घटनाओं की विभिन्नता तो स्वाभाविक ही है, किंतु यह कह देना उचित होगा कि भास ने

अपने बहुसंख्यक नाटकों के वर्णित घटना-चक्रों में इतनी सजगता एवं निपुणता से अंतर रखा है, जितना कालिदास से दो-तीन नाटकों में भी असंभव हो गया।

भास की मौलिक प्रतिभा एवं नाट्य-कुशलता का परिचय उनकी प्रत्येक कृति में मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने महाभारत, रामायण आदि परम प्रख्यात एवं पुरातन ग्रंथों के सुप्रसिद्ध नायकों को ही अपनाया है, जिसके कारण उन्हें अपने रचना-कौशल में अनेक सुविधाएँ सुलभ हुई हैं, तथापि इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन पुरातन पात्रों में भी भास की रचना-चातुरी के उदाहरण सर्वत्र सुलभ हैं। विविध प्रकार के अलंकारों एवं रसों की अवतारणा में भी भास को अनुपम सफलता मिली है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों के भास ने शतशः मनोहर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और इसी प्रकार काव्य के नवों रसों में से कोई भी ऐसा नहीं बचा है, जिसे भास की लेखनी ने उपकृत न किया हो। वीर, हास्य, करुण, वात्सल्य, रौद्र और बीभत्स रसों के वर्णन में तो भास को अद्भुत सफलता मिली है। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्यों एवं जीव-जंतुओं की सहज प्रवृत्तियों का भी भास ने मनोग्राही वर्णन किया है।

समसामयिक सामाजिक प्रवृत्तियों के चित्रण में तो भास कालिदास से भी कहीं आगे हैं और संभवतः यही कारण था कि भास ने अपने नाटकों में भरत मुनि के आदर्शों की तनिक भी चिंता न कर के रंगमंच पर ही युद्ध, मृत्यु आदि निषिद्ध दृश्यों का वर्णन करने में भी संकोच नहीं किया है। नाटकों में घटनाओं की मनोमोहक शृंखला गूँथने में तो भास की प्रतिभा को अद्वितीय सफलता मिली है। अपने कई नाटकों का आरंभ तो उन्होंने दो-तीन अति सामान्य पात्रों, यात्रियों अथवा नागरिकों से ही करा दिया है।

भास का तपोवन भी बहुत कुछ कालिदास के समान ही है, जिसमें हरिण निश्चिंत और निर्भय हो कर टहलते हैं। वृक्षों की शाखाएँ पुष्पों तथा फलों से लदी हुई हैं, उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाता, मुनिजन दयावश उनकी रक्षा करते हैं। गौओं की विशेषकर सवत्सा एवं कपिला की बहुलता है, उनके समीप की दिशाओं में कृषियोग्य शाद्वल केदार खंड नहीं दिखायी देते हैं और पर्णकुटीरों से निकल कर यज्ञ की सुगंधित धूमराजि आकाश को रंजित करती है।

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपा सर्वे दयारक्षिताः ॥
भूयिष्ठं कपिलानिगोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसंदिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥

भास के इन तपोवनों में गुरुओं एवं आचार्यों के आश्रम होते हैं, जिनमें राजाओं और महाराजाओं के किशोरों के साथ सद्गृहस्थों के बालक भी अध्ययन करते हैं। सभी शिष्यों के भरण-पोषण एवं उनको सुयोग्य बनाने की ज़िम्मेदारी उनके आचार्य की होती है। यदि शिष्य उद्दंड होता है, पढ़ने-लिखने से जी चुराता है, गुरुजनों की अवज्ञा करता है, सहाध्यायियों से विवाद करता है, तो यह उसकी ही अपात्रता नहीं है, प्रत्युत उसके आचार्य की ग़ैरज़िम्मेदारी है और

उसका शत-प्रतिशत दायित्व आचार्य का ही है। शिष्य के माता-पिता और उसके मित्रों आदि का तो इसमें कोई भी दोष नहीं है। भास का मत है :

अतीत्य बंधूनवलंध्य मित्राण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः ।
बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातुर्नैवापराधोऽस्ति न पितुर्न मातुः ।।

आज के युग में छात्रों की समस्याओं पर चिंतित शासकों को महाकवि भास के इस निदान से प्रेरणा लेनी चाहिए। क्योंकि उनके मतानुसार छात्रों के गुरु या आचार्य ही उन्हें सन्मार्ग पर ला सकते हैं और उन्हों को इसका दायित्व सम्हालना भी चाहिए।

भास के युग में धन की वह महिमा नहीं थी, जो यज्ञ-होमादि की थी। भास कहते हैं कि महाराज इक्ष्वाकु, शर्याति, ययाति, राम, मान्धाता, नाभाग, नृग तथा अंबरीष आदि नृपति के धन-कोश तथा विपुल साम्राज्य से सुलभ वैभव-विलास तो इनके शरीर के साथ ही नष्ट हो गये, किंतु इन्होंने जिन महान यज्ञों को सविधि संपन्न किया था, उनके द्वारा ये आज भी स्मरणीय बने हुए हैं।

भास का यह मत भी था कि राजाओं को अपने पुत्रों के लिए धन-संपदा एवं साम्राज्य का विस्तार नहीं सौंपना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो निश्चय ही ठगा जाता है। यह सब तो दीन, दुखियों, दरिद्रों तथा विद्वानों को अर्पित कर देना चाहिए। राजा के पुत्र की समृद्धि तो उसके बाणों के अधीन है, अतः राजा अपने पुत्र को मात्र धनुष और बाण सौंपे।

बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी वंच्यते सन्निधाता ।
विप्रोत्संगे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः ।।

भास-कालिक समाज की तात्कालिक झाँकियाँ उनके नाटकों की घटनाओं में सुस्पष्ट चित्रित हैं। शकुन-अपशकुन, चाटुकारी, सामान्य प्रसंगों पर भी मार-पीट, चोरी, जारी, लबारी, भूत-प्रेतादि पर विश्वास, स्त्री-सौंदर्य एवं धन के प्रति लोलुपता की भावना उस समय भी वैसी ही थी, जैसी आज के समाज में है, किंतु इसके साथ ही समाज में गुरुजनों के प्रति आज के युग में जो अवज्ञा की भावना उत्तरोत्तर घर करती जा रही है, वह उस युग में नहीं दिखायी देती थी। उस युग में पिता, माता, बड़े भाई एवं अन्य, उम्र में बड़े-सगे, संबंधियों के सामने नवयुवक अपनी स्त्री एवं पुत्रादि से बोलने में संकोच करते थे, अपने पुत्र-पुत्रियों से प्यार करना अथवा उनको अपने पास बुलाने में भी लोग उसी तरह झिझकते थे, जैसा आज से तीस-चालीस वर्ष पूर्व तक होता था।

विराट के राजदरबार में अज्ञातवासपरायण पांडवों के दिन बड़ी कठिनता से बीत रहे थे कि इसी बीच गौओं के अपहरण-प्रसंग में कौरवों के साथ लोहा लेने का अवसर अकस्मात उपस्थित हो गया। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु कौरवों के साथ विपक्ष की ओर से गौओं के अपहरण

के लिए आया था। गांडीवधारी अर्जुन की रण-चातुरी तथा नीति से द्रोण एवं भीष्म ने लड़ाई बंद कर दी और कर्ण तथा दुर्योधनादि भयभीत हो कर रणभूमि से भाग खड़े हुए। किंतु सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु तब तक लड़ता ही रहा, जब तक विराट के रसोइया भीमसेन ने उसे पकड़ कर विवश नहीं कर दिया। अभिमन्यु को विराट के दरबार में लाया गया, जहाँ प्रच्छन्न वेशधारी पांडव विद्यमान थे।

बहुत दिनों बाद अर्जुन की भेंट अभिमन्यु से होती है। भीम एवं युधिष्ठिर चाहते हैं कि कोई ऐसा अवसर निकाला जाय कि अर्जुन एकांत में अपने पुत्र को अपनी छाती से लगा सके। क्योंकि बेचारा पुत्र इतना बड़ा हो गया और अर्जुन को हम लोगों के सामने उससे बातचीत करने का भी कभी अवसर नहीं आया।

भारतीय समाज की इन प्राचीन मर्यादाओं का भास ने बड़ी सूक्ष्मता से पालन किया है और इससे प्रकट होता है कि इस दिशा में वे कितने जागरूक थे। ऐसा कोई सामान्य प्रसंग भी नहीं मिलता, जहाँ पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, ज्येष्ठ बंधु, अनुज, सास-पुत्रवधू, राजा-अमात्य, उच्चाधिकारप्राप्त शासक एवं मातहत कर्मचारी एवं ज्येष्ठ बंधु-बांधव के बीच कहीं कोई अमर्यादित प्रसंग उपस्थित हो।

मृत्यु की परवशता का कितना सटीक एवं सोदाहरण वर्णन महाकवि भास ने किया है:

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयंति ।
एवं लोकस्तुल्य धर्मो वनानां काले-काले छिद्यते रुह्यते च ॥

जिस प्रकार कुएँ में लटकाये गये घड़े की रस्सी टूट जाने पर कोई नहीं पकड़ सकता, उसी प्रकार मृत्यु आ जाने पर कौन किसे रोक सकता है! यह संसार वन के समान है, जहाँ वृक्ष काटे जाते हैं और उनकी जगह नवीन वृक्ष तैयार होते रहते हैं।

भास के युग में पुत्री के पिता की चिंता राजा महासेन के मुख से सुनिए:

कुलं तावच्छ्लाघ्यं प्रथमभिकांक्षो हि मनसा
ततः सानुक्रोशं मृदुरपि गुणस्त्वेष बलवान् ।
ततो रूपे कांतिं न खलु गुणतः स्त्रीजनभयात्
ततो वीर्योदग्रं न हि न परिपाल्या युवतयः ।

सर्वप्रथम जामाता का कुल प्रशंसनीय होना चाहिए। फिर उसमें दया होनी चाहिए। यद्यपि दयालु होना वर की सुकुमारता को ही प्रकट करता है, किंतु है इसकी भी बलवत्ता और खासकर जमाता के लिए। क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि कन्या कोई छोटी-मोटी भूल कर दे और जामाता क्रुद्ध हो उठे। किंतु इतना ही नहीं, उसे रूपवान भी होना चाहिए। रूप कोई खास गुण तो नहीं है, किंतु घर एवं पास-पड़ोस की स्त्रियों के डर से जामाता को रूपवान तो होना ही चाहिए।

और यह सब होने के साथ ही मैं उसे बलशाली होने की भी कामना करता हूँ, क्योंकि यदि वह दुर्बल हुआ तो अपनी युवती पत्नी की रक्षा नहीं कर सकेगा।

संभवतः भास की इन सामाजिक मान्यताओं में आज के युग में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

भास के प्राकृतिक वर्णन की एक मनोहर छटा देख कर यह मानना पड़ता है कि वे कितने रससिद्ध एवं प्रकृति-प्रेमी थे। दृश्य तपोवन की संध्या का है :

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढ़ो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूम्रो मुनिवनम् ।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम् ॥

कैसी सुहावनी संध्या है! पक्षीगण अपने निलयों में बैठ कर चुप हो गये हैं। मुनि-जन स्नान कर चुके हैं। अग्निहोत्र के लिए जलायी हुई अग्नि प्रदीप्त हो रही है, धूमराजि समूचे तपोवन में विचरण कर रही है। सूर्य ने भी अपनी दूर की यात्रा समाप्त कर अपनी किरणें समेट ली हैं और रथ को लौटा कर शनैः-शनैः अस्ताचल का मार्ग ग्रहण कर लिया है। अतीव मनोहारी वर्णन के साथ सरल एवं प्रसादगुणयुक्त पदावली का यह प्रयोग रससिद्ध भास ही कर सकते थे। ऐसे ही सैकड़ों जीवंत एवं प्रेरक उदाहरणों से भास के नाटकों की छटा अतीव निराली हो गयी है। कविता-कामिनी के 'हास' भास की रससिद्ध वाणी का चमत्कार उनकी किसी भी छोटी या बड़ी रचना में अवगाहन के साथ ही सुलभ हो जाता है।

—द्वारा 'माध्यम'

कहानी

●

त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव

दीदी

घर से चला था केसरी, और दीदी किवाड़ बंद करने आयी थीं, तभी उसे लगा था। लेकिन रोज़ ही उसे लगता है कि जैसे दीदी अब कहेंगी, पर वे कभी नहीं कहतीं। दोनों किवाड़ों के बीच में खड़ी हो जाती हैं और चुपचाप उसे देखती रहती हैं। चेहरे पर वही भाव रहता है, वही दृष्टि भी, पर वह कुछ कहती नहीं।

बचपन की बात और थी। अब केसरी बड़ा हो गया है, और दीदी भी प्रौढ़ता की देहरी पार करने लगी हैं। अब वैसे कहने में संकोच लगता होगा। फिर भी केसरी के अंतर्मन में यह इच्छा बलवती हो उठी है कि दीदी वैसे ही पूछें, क्योंकि स्मृति में वही मुद्रा है. . .दीदी उसे गोद में बिठाये पूछ रही हैं—'केसी, जानता है, मुझे कितनी तकलीफ़ है ?'

जब का यह प्रश्न था, तब का एकमात्र आधार यही था कि वह बड़ा हो ले, कमाने-धमाने लगे तो दीदी की सब तकलीफ़ें दूर कर देगा। माँ, पिता आदि से दूर ले जा कर वह दीदी को कहीं अलग रखेगा। वह होगा और उसकी अच्छी सी दीदी, और दीदी के लिए तमाम सुख के साधन। . . .और एक दिन वह बड़ा भी हुआ, कमाने भी लगा और दीदी को भी अपने पास ही रखे हुए है फिर भी उसे लगता है कि दीदी की व्यथा अपने तईं ज्यों-की-त्यों है।

उस क्षण भी केसरी को यही लगा था, जैसे सामने शून्य में दीदी खड़ी हो कह रही हों—'केसी, बड़े होने पर तू मुझे सुखी तो रखेगा न ?'

पर वह कुछ जवाब न दे पाया। उसने लाख चेष्टा की कि वह उस बच्चे को भूल जाय, पर उसका चेहरा बार-बार उसकी स्मृति के संमुख आ जाता। गुलाबी-गुलाबी गालों के ऊपर भीगी-भीगी आँखों वाला वह चेहरा. . .सुकोमल सुनहले केश और पतले-पतले लाल अधर उसकी स्मृति में उतरने लगते।

अभी सुबह ही केसरी ने उसे देखा था। दातून ख़रीद कर लौटते समय गली के नुक्कड़ पर लोगों की भीड़ देख कर वह रुक गया था। कुछ ही दिनों का एक बच्चा तौलिए में लिपटा पड़ा था। उसका गुलाबी चेहरा सर्दी के कारण नीला पड़ गया था। मिची-मिची आँखें बिल्कुल मुँद सी गयी थीं। वह मूक-निश्चेष्ट पड़ा था, जैसे मर गया हो, और दूसरी ओर लोगों की ज़िंदा आवाज़ें थीं :

"राम-राम ! कैसा घोर कलयुग आ गया है !"

"ना पूछो भाई। ऐशो पाप बढ़ गयो है कि कोई ठिकाना नाय है !"

"आजकल के छोकरे-छोकरियों को पता नहीं क्या होता जा रहा है ! साले मुहब्बत करते हैं।"

"अच्छे करम का होता तो मर गया होता। साला पाप का है, तभी ऐसी सर्दी में भी ज़ी रहा है।"

मेहतरानी आयी तो बोली, "कैसा पियारा बच्चा है !"

उसे गोद में ले कर गाल पर हाथ फेरती वह फिर बोली, "उई दइया, कैसा सुन्न पड़ गया है !"

फिर सड़क की उस पटरी पर ठेला खींचती हुई अपनी पतोहू को आवाज़ दे कर बोली, "अरी अल्लारक्खी, ले जरी इसे दूध पिला दे, नहीं तो चल बसेगा !"

अल्लारक्खी उसे ले कर धूप में दीवाल से उठंग कर बैठ गयी। बाद में सफ़ेद पाजामें पर ख़ाकी कमीज़ पहने दो सिपाही वहां आये और हवाला लिख कर ले गये। वह खड़ा-खड़ा यही सब देखता रहा।

स्मृतियों की घाटियाँ हैं; घाटी के अंदर घाटी. . .और जैसे बिजली चमके तो सब रौशन हो जाय, वैसे ही केसरी के संमुख सभी दृश्य प्रकाशित हो उठे हैं।

उसकी दीदी का क्या अपराध था ? घाटियों में बचपन के दिन तैरते हैं. . .ओह, दीदी कितनी उदास थीं ! उनके चेहरे पर कैसी व्यथा छायी थी !

तब उसे संसार के संबंध में बहुत कम पता था, फिर भी उसे लगता कि दीदी ने कोई अपराध किया है। तभी तो घर के सभी लोग दीदी को डाँटते-डपटते रहते थे। सारा घर दीदी को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था और उनसे घृणा करता था। पर वह क्यों नहीं अपनी दीदी को घृणा से देख पाता था ? शायद दीदी की आँखों की गहराई में बसी हुई व्यथा की तरलता उसे अपने से बाँधे हुए थी। अवश्य ही दीदी के हृदय में कोई ऐसी पीड़ा रही होगी जिसे वे सह नहीं पा रही थीं। तभी तो वे पीली पड़ती जा रही थीं। पर यह भी सच रहा होगा कि उन्होंने कोई बहुत बड़ी ग़लती की थी, क्योंकि उन्हें घर के भीतर की सबसे अंधेरी कोठरी में रखा जाता था और बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। पास-पड़ोस की दृष्टि से भी बचाया जाता था। ज़रूर उन्होंने कोई अपराध किया था।

उसे दीदी की उन दिनों की सारी चेष्टाएँ बार-बार याद आती हैं। जब वह दीदी की कोठरी में जाता, वे उसे अपने पास बिठा लेतीं और भरी-भरी आँखों से उसे देखा करतीं। फिर सहसा उसे अपने से लगा लेतीं और कहतीं, "केसी, तू अच्छा लड़का बनेगा न ?"

जब वह सिर हिलाता कि हाँ तब वे शून्य में ताकने लगतीं, फिर कहतीं, "केसी, तू बड़े होने पर अपनी दीदी को सुखी रखेगा न ?"

तब वह सिर हिलाता कि, हाँ। दीदी उसकी आँखों में झाँकती हुई सी कहतीं, "केसी, तू जानता है, मुझे कितनी तकलीफ़ है ?"

और तब उसके जी में होता कि दीदी को बहुत-बहुत तकलीफ़ है। जल्दी से वह बड़ा हो ले तो उनकी सारी तकलीफ़ों को दूर कर देगा। वह चुपचाप उनके चेहरे को देखा करता और उसकी विधवा दीदी के चेहरे पर एक व्यथाभरी उदासी की छाया धीरे-धीरे छा जाती और उनकी आँखें सजल हो आतीं। वह समझ न पाता कि दीदी को क्या कष्ट है, पर मन-ही-मन वह विकल हो जाता।

स्मृतियों की घाटियाँ हैं; घाटी के अंदर घाटी...

उस रात बड़ा सन्नाटा लग रहा था उसे। जाने क्या होने वाला था ! दीदी कोठरी में फटी गुदड़ी पर बेदम पड़ी थीं। वह उनके पास जाना चाहता था तो माँ ने उसे डाँट दिया था। तब वह पास ही किवाड़ के पास अँधेरे में खड़ा हो, छिप कर सब-कुछ समझने की चेष्टा करने लगा। उसे लग रहा था कि लोग उसकी दीदी को मार डालेंगे। पर ऐसा नहीं हुआ था। लालटेन की हल्की रोशनी में उसने दीदी का सिसकता हुआ चेहरा देखा था। पिता जी दीदी के पास से एक छोटे से बच्चे को, जो पहले घर में नहीं था, उठा कर चलने लगे तो दीदी ने पिता जी के पैर पकड़ लिये थे।

"हट, कुलच्छिनी !"

पर दीदी पैर पकड़े रहीं। उसे बहुत डर लगने लगा था और वह थोड़ा आगे को बढ़ कर देखने लगा कि अब क्या होगा। अचानक उस पर दीदी और पिता जी की निगाहें एक साथ पड़ीं। दीदी के चेहरे का वह भाव बिलकुल नहीं भूलता। पिता जी ने कहा, "केसी, तनिक इसे पकड़ तो !"

उसने आगे बढ़ कर डरते-डरते पिता के हाथ से तौलिए का बच्चा ले लिया। पिता जी ने दीदी को हाथ से ढकेल, लात मार कर कहा था, "मुँहजली, ऐसे ही सुकर्म किये होते तो आज यह दशा होती !"

और दीदी ने उसकी ओर कुछ ऐसी दृष्टि से देखा था कि जैसे कह रही हों—'नहीं, नहीं !' पर उसने माँगे जाने पर बच्चा पिता को सौंप दिया। वे उसे ले कर घर के बाहर चले गये। उसके मन में हुआ कि इसे कहाँ ले जा रहे हैं ? वह भी चुपके से उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। अँधेरी सुनसान रात में निर्जन गलियों से होते हुए वे घर से काफ़ी दूर आये और

गंदे नाले के समीप बच्चे को रख कर इधर-उधर देखने लगे। अचानक उसे देख घबड़ाते हुए से बोले, "केसी, तू यहाँ कहाँ ?"

वह चुप रहा। उन्होंने उसकी अँगुली पकड़ी और घर की ओर लौट पड़े। केसी के मन में सनाका हुआ कि उस बच्चे को कहाँ छोड़े जा रहे हैं! पर वह चुप था। पिता अपने आप उसे समझाते रहे कि किसी से कुछ कहना मत और उसने मन ही मन गाँठ बाँध ली कि वह किसी से कुछ नहीं कहेगा।

घर लौटने पर रात भर उसे नींद नहीं आयी। बिस्तर पर वह चुपचाप पड़ा रहा। पिता पास की कुर्सी पर बैठे रहे। वह अधखुली आँखों से पिता का दुखी चेहरा देखता रहा। और उसने मन-ही-मन दुहराया कि वह किसी से कुछ नहीं कहेगा।

अब दीदी के सामने जाने में उसे भय और लज्जा लगती। पिता के पास बैठने में भी संकोच होता। माँ से वह घबराता और घर के एक कोने में बैठे-बैठे किताब पढ़ते-पढ़ते वह बड़ा होता जाता। समझता नहीं, पर सोचता कि नन्हें से आकार वाले उसके छोटे भाई के आने पर पास-पड़ोस की औरतें आ कर गाना-बजाना कर रही हैं। पिता जी दौड़-दौड़ कर लोगों को जिमा रहे हैं। वे अच्छे-अच्छे कपड़े पहने हैं। क्या इस बच्चे को भी पिता जी रात में कहीं फेंक आयेंगे ?

वह सोचता कि ज़रूर बात गड़बड़ थी। ज़रूर पिता परेशान थे। ज़रूर दीदी ने कोई अपराध किया था।

आज सब बातें वह समझ सकता है, पर तब निरा अबोध था। जो कुछ तब हुआ था, उसके लिए वह अपराधी नहीं था, लेकिन मन-ही-मन उसे लगता कि वही जैसे सब बातों का ज़िम्मेवार रहा हो; जैसे उसी से कोई अपराध हो गया हो। पिता के हाथ से ले कर तौलिए को पकड़ने का अपराध तब से उसी के सिर पर किसी गुरुतर पाप की छाया की तरह मँडराता रहा है।

दिन बड़ी जल्दी बीतते हैं क्योंकि बड़े होने का उत्साह है। बड़ा हो कर कमायेगा तो दीदी को साथ रखेगा और सुख पहुँचायेगा। और वह प्रतिदिन देखता रहा है कि जैसे दीदी अभी भी उसे तौलिया नहीं ले जाने देंगी; जैसे अभी कहेंगी—'नहीं, नहीं।'; जैसे उससे पूछेंगी —'कैसी, बड़े होने पर तू मुझे सुख देगा न ?'

अल्लारक्खी की गोद में पड़ा वह अबोध शिशु दूध पी लेने और धूप की गर्मी पा जाने से होश में आ गया था।

मेहतरानी बोली, "भइया लोग, जमाना ऐसा मँहगाई का आ गया है कि एक जून की ही खूराक नसीब नहीं होती। घर में पाँच-पाँच खाने वाले हैं। मेरे जिम्मे तो यह लगने का नहीं। अब मरे चाहे जाय...."

"किसके पास ऐसा फ़ालतू पैसा है कि इस पाप की गठरी पर लुटावे !"

एक युवती कन्या अपने पिता से बोली, "पापा, कितना स्वीट बेबी है!"

"शी: ! बेबी, तुम्हारी भी कैसी गंदी पसंद है!"

अल्सेशियन कुत्ता तौलिया सूँघने लगा।

"डर्टी जिमी, कम अप!"

लोग आये, गये। तमाशा लगा रहा। वह तब ख़त्म हुआ जब एक भिखारिन बच्चे पर दया कर उसे उठा कर ले गयी। लोगों को संतोष हुआ कि चलो ठीक हुआ।

पर केसरी का मन बराबर खुड़पेंच करता रहा। दफ़्तर की फ़ाइलों में उसे बच्चे की शक्ल दिखायी देती रही; पुल पर बैठी भिखारिन दिखायी देती रही। चारों ओर अपाहिज, लूले, लँगड़े, कोढ़ी आदि बैठते हैं। लोग रहम खा कर पैसे फेंक जाते हैं। जिसे देख कर जितनी घृणा उपजे, उसके लिए उतनी ही दया। कोढ़ पर मक्खियाँ भिनकती हैं तो उसके लिए अधिक पैसे; अभी-अभी पैदा हुए बच्चे के लिए उसकी भिखारिन माँ को अधिक पैसे; गोद में पड़े बच्चे के रोने पर अधिक पैसे; धूप में कुम्हलाये हुए बच्चे के लिए अधिक पैसे।

वह भिखारिन एक पल को भी उस बच्चे को अपने पास से नहीं हटायगी। धूप में डाल कर चिल्लवाती रहेगी। नाक बहेगी तो अधिक पैसे मिलेंगे। चारों ओर से धूल-मिट्टी उड़-उड़ कर पड़ेगी तो घिनौने बच्चे के लिए और पैसे मिलेंगे। बच्चा मर जायगा तो लाश को गोद में डाले रहेगी कि और अधिक दया उपजे तो और अधिक पैसे मिलेंगे। लाश सड़ेगी तो पैसे और अधिक मिलेंगे।

केसरी को फ़ाइलों में बच्चे की लाश दिखायी पड़ती है तो वह चौंक उठता है। रात सोते समय भी नींद न आने पर उसे बच्चे की लाश दिखायी पड़ती है और वह सिहर उठता है। तड़के भिनसारे तुलसी के बिरवे के आगे बैठी अपनी विधवा दीदी को वह देखता है तो लगता है कि जैसे अभी वे कहेंगी, बिल्कुल अभी, कि केसी, तू मेरी तकलीफ़ जानता है न?

उसे लगता है कि आज इतने सालों बाद वह दीदी की तकलीफ़ जान पाया है। घर पर माँ छोटे बच्चों के साथ हैं। भाभी भी वहीं हैं। पर यहाँ दिन-रात दीदी के लिए यही बिरवा है। हाथ जोड़े दीदी बैठी रहती हैं। पूजा-पाठ में अपनी ज़िंदगी काट रही हैं। अभी उठ कर चाय बनायँगी तो कहेंगी, "केसी, उठ कर चाय पी ले।"

लेकिन नहीं, आज दीदी कहेंगी, "केसी, मेरा बच्चा वापस ला दे।"

आज इतने सालों बाद वे बोलेंगी। जो बात कभी न कह पायीं, आज कहेंगी। और केसी सोचता है कि उनके कहने के पहले ही वह उस बच्चे को क्यों न ला दे! जब छोटा था तब वे कहती थीं। अब वह बड़ा हो गया है और वे भी प्रौढ़ता की देहरी पार करने लगी हैं। उन्हें कहने में संकोच होगा। इससे उनकी प्रतिष्ठा बची रहेगी। वह चुपचाप बच्चे को ला कर उनकी गोद में डाल दे।

वह तुरंत घर से निकल गया। पुल पर पहुँचा। वह उस भिखारिन को पहचानता है। बच्चे को भी पहचानता है। लेकिन कई चक्कर लगाने पर भी वह भिखारिन न दिखी। एक पर संदेह हुआ तो उसने उससे पूछा कि कल तू ही कहीं से एक बच्चा माँग लायी थी?

वह बोली, "कहाँ ला पायी। पुलिस उसे उठा ले गयी।"

केसी वहाँ से निराश लौटा। रास्ते में उसे ख्याल आया तो वह पास की पुलिस चौकी पर पहुँचा। ठीक, बच्चे को सिपाही ही ले आये थे।

"कहाँ है वह, कहाँ है?"

पुलिस के सिपाही ने उससे भद्दा मज़ाक किया, "क्या आपका ही बच्चा है?"

उसने नाराज़गी प्रकट की तो सिपाही भी नाराज़ हो गया, "आपका नहीं है तो आप क्यों परेशान हैं उसके लिए?"

केसरी ने अपने को शांत किया। सिपाही को समझाया। अब सिपाही से सौदेबाज़ी शुरू हुई, क्योंकि सिपाही ऐसे दसियों केस देख चुका है, जिसमें नाजायज़ बच्चों को फेंक कर बाद में लोग उन्हें किसी दास से पलवाते हैं और परोपकार की वाहवाही अलग लूटते हैं। केसरी उसे पाँच रुपया देता है, लेकिन पहुँचने पर अनाथालय वाले बच्चे को नहीं देते। वहाँ वह आनाथालय को भी पाँच रुपए चंदा देता है। तब दाई पूछती है, "सरकार, हमें कितने रुपए महीना देंगे?"

सब झंझटें किसी तरह से केसरी निबाहता है। बच्चा उसे मिल जाता है। वह प्रसन्न है, अतीव प्रसन्न। अपनी दीदी को आज वह प्रसन्न देखेगा। आज दीदी की कितनी पुरानी साध मिटेगी; पुराने अपराध का प्रायश्चित होगा।

वह घड़ी देखता है। ग्यारह बजा है। दफ़्तर तो छूट गया, लेकिन कोई बात नहीं। बिना बताये वह चला आया था, दीदी परेशान होंगी। लेकिन आज वह दीदी की सब परेशानी मिटा देगा। इतनी बड़ी निधि उन्हें मिल जायगी, ठीक हो लेंगी।

रिक्शे वाला बहुत धीरे चलता है। कई बार केसरी कह चुका है पर वह और तेज़ नहीं चल पाता। अब की बार जैसे ही उसने तेज़ चलने को उससे कहा, वह बोला, "बाबू, बच्चे को हवा लगेगी, जुकाम हो जायगा।"

केसरी समझ गया। धीरे ही चलने दो। बीमार हो जायगा तो परेशानी होगी।

दूर से घर दिखायी देता है। दोनों किवाड़ों के बीच में दीदी खड़ी हैं। उसकी सारी आतुरता समाप्त हो जाती है। शांत-गंभीर भाव से वह उतरता है। दीदी प्रश्नभरे भाव से उसे देखती हैं। वह बच्चे को उनकी गोद में डालने को होता है कि वे पीछे हट जाती हैं। वह थका है। बच्चे को बिस्तर पर डाल देता है।

गुसलखाने से मुँह धो कर निकलता है तो दीदी पूछती है, "अरे, कहाँ से ले आया इसे?"

दीदी के मन की करुणा जगाने के लिए वह कहता है, "नाले किनारे पड़ा था।"

"हाय राम, किस पाप के फल को घर उठा लाया? अभी इसे फेंक आ। जाने किस जात-गोत्र का है?"

उसने समझा कि दीदी ऊपर का दिखावा कर रही हैं। लेकिन उन्होंने सचमुच का गुस्सा ज़ाहिर किया। केसी से बच्चे को उठवा कर बोरे पर डलवाया। बिस्तर को ले गयीं गुसलखाने और उसे धोने के लिए छोड़ आयीं।

बोरे पर बच्चा चिल्लाने लगा। वह उठाने चला तो दीदी ज़ोर से बोलीं, "खबरदार जो इस गंदे पाप के फल को हाथ लगाया।"

वह स्तब्ध रह गया। यह कैसा अप्रत्याशित भाव! कहाँ तो वह सोच रहा था कि दीदी को मुँहमाँगी चीज़ मिल जायगी, कहाँ यह तमाशा उठ खड़ा हुआ। दीदी नाराज़ हैं, बेहद नाराज़। बोरे के पास से निकलती हैं तो बच कर कि कहीं धोती छू न जाय। केसरी परेशान है। दीदी बड़बड़ा रही हैं। अंत में वे चमचा ले कर आती हैं और ज़ोर से चिल्लाती हैं, "केसी, तू इसे ले जाता है या नहीं? ले जा कर डाल आ वहीं।"

केसी के मन में दर्द है। दीदी की व्यथा का भी, अपनी मेहनत और दस रुपये का भी। किंतु दीदी हैं कि पीछे पड़ी हैं। बार-बार कहती हैं, "हटाओ इस पाप की गठरी को यहाँ से।"

और केसी के मन में बात आ-आ कर रुक जाती है। चाहता है कि कहे—'और जब तुम्हारा पाप का फल प्रकट हुआ था, तब?'

लेकिन वह कहता नहीं। चुप रहता है। परेशान हो कर घर के बाहर आ जाता है। दीदी चिल्लाती हैं, "देख इसे ले जा नहीं तो मैं फेंक आऊँगी।"

वह चिल्लाता है, "फेंक दो, जहाँ जी चाहे।"

झुँझलाहट में वह बाहर निकल जाता है। पार्क में रजनीगंधा का एक कुंज है। वहीं जा कर बैठता है। सोचने लगता है कि दीदी को क्या हो गया है? संभव है उम्र और पूजा-पाठ के कारण सनक गयी हों; या अपने आप को अत्यंत कठोर बना लिया हो; या सौ बातों की एक बात, कि तिरिया चरित्र कोई नहीं जानता।

केसरी के मन में दीदी के लिए अपार श्रद्धा थी, असीम स्नेह। उन्हें वह साधारण स्त्रियों से अलग समझता था। लेकिन आज उन्होंने भी सपना तोड़ दिया। आज वे भी मूर्ख स्त्रियों की तरह पुरानेपन में बह गयीं।

दो-ढाई घंटे बैठे रहने पर उसे भूख लग आयी और अब उसका चित्त भी शांत हो गया था। बच्चे के लिए जो ममता उसके मन में थी, वह अब मन से निकल गयी थी। ऐसे बहुत बच्चे पैदा होते रहते हैं; कहाँ तक चिंता की जाय। शायद इसे जीने का प्रारब्ध ही नहीं मिला था। कुछ सहारा भी हुआ तो दीदी के हाथों ही फेंका जाना लिखा था भाग्य में।

वह घर लौटा। खुली खिड़की से उड़ रहे पर्दे के पीछे उसने निगाह दौड़ायी कि दीदी क्या कर रही हैं। वे पलंग पर सो रही थीं। अपने हाथ के घेरे में बच्चे को उन्होंने अपने सीने से भींच रखा था।

अचानक वह हक्का-बक्का रह गया।

—स० क-०११/१६१,
राममनोहर लोहिया नगर,
पटना-१।

भेंट-वार्ता

जगदीश वोरा

पी० लक्ष्मीकांतम से एक भेंट

दिल्ली में अप्रैल की गर्मी के बीच, अठारह तारीख का सवेरा मंद-मंद शीतल पवन के झकोरों के साथ बड़ा सुहावना लग रहा था। पिछली रात वर्षा हो चुकी थी। बादल आकाश में मँडरा रहे थे। मैं तेज़ी से बड़े मैदान को पार करते हुए आंध्र के सुप्रसिद्ध कवि एवं आलोचक श्री पी० लक्ष्मीकांतम से मिलने जा रहा था। उनसे मिलने के विचार के साथ ही मेरा ध्यान भारत के एक विस्तृत भू-भाग में प्रचलित अनेक भाषाओं, रीति-रस्मों, त्योहारों आदि की ओर गया, जो एक भारतीय संस्कृति के ही अवयव हैं। वेदों की प्रथम ऋचा के उद्घोष से आज तक यहाँ की संस्कृति के महान नेता भारत की इस अनेकता में विद्यमान आंतरिक एकता की घोषणा करते आये हैं। अपवादस्वरूप कुछ को छोड़ कर लगभग सभी इस बात पर एकमत हैं कि इस देश के एकात्म सांस्कृतिक पैटर्न के निर्माण में संस्कृत ने बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, परंतु खेद की बात है कि हाल ही में प्रखर मतभेद पैदा हो गये हैं और दो स्पष्ट खेमे दिखलायी पड़ने लग गये हैं। एकाएक रास्ते के मोड़ ने मेरी विचार-शृंखला को तोड़ दिया और मैं इस विवादग्रस्त विषय पर श्री लक्ष्मीकांत जी के विचार जानने को उत्सुक हो गया। साथ ही पिछले साक्षात्कारों के परिप्रेक्ष से मस्तिष्क में यह बात भी उभर कर सामने आयी कि आंध्र के प्रतिष्ठित लेखक किस तरह मिलेंगे, हालांकि मेरे लिए ऐसी पिछली भेंटें अधिकतर सुखद, सौहार्दपूर्ण, अनौपचारिक और ज्ञानवर्धक ही रही हैं।

द्वार पर पहुँच कर मैंने घंटी बजायी और एक अधेड़, औसत क़द के मेधावी महानुभाव को मधुर मुस्कुराहट के साथ स्वागत करते पाया। प्रसन्न होते हुए वे बोले, "तो आप आ गये। मैं प्रतीक्षा कर रहा था। चूँकि मुझे और भी काम हैं, अतः हम लोग जिस कार्य के लिए मिल रहे हैं, उसे यदि आप बुरा न मानें तो प्रारंभ कर दिया ज़ाय।"

"इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि संपूर्ण भारत एक आर्य देश है, जिसकी भाषा का नामकरण उसके नाम के आधार पर नहीं हुआ है, आप इस देश की भाषाओं को आर्य और द्रविड़ कुलों में बाँटने की प्रवृत्ति को कहाँ तक उचित मानते हैं?" मैंने पहला प्रश्न किया। इस प्रश्न के साथ ही उनके विचार आंध्र विश्वविद्यालय के प्राच्य भाषा विभाग में पहुँच गये, जहाँ वे वर्षों अध्यक्ष रहे हैं और इस तरह के अनेकों प्रश्नों का उत्तर देते रहे हैं। हाथ में लिये ताश के पत्तों को फेंटते हुए उन्होंने कहा, "एक भाषाविद भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषाओं को भाषा-परिवारों में विभाजित करता है, जैसे आर्य, द्रविड़, सीमेटिक आदि। इससे एक विद्वान को दो अलग-अलग भाषा-समूहों में सादृश्यता और विभिन्नता दिखलाने में सरलता हो जाती है। साथ ही यह प्रमाणित करने में भी सुविधा होती है कि वे एक ही स्रोत से आयी हैं या नहीं। यदि इस प्रकार के शोध को आगे बढ़ाया जाय तो एक भाषाविद एक भाषा के कुछ शब्दों की उत्पत्ति एवं परिवर्तन के कारण भी तर्कबद्ध प्रस्तुत कर सकता है, जो व्याकरण-शास्त्री नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ संस्कृत के युग्म 'भूजानि' के अंतिम अक्षर को पाणिनि ने संस्कृत शब्द 'ज्य' (जिसका अर्थ पत्नी से होता है) को स्थानापन्न बतलाया है। इस तरह 'भूजानि' शब्द एक 'पेसिव कम्पाउंड' हो जाता है, जिसका अर्थ राजा होता है, क्योंकि उसकी पत्नी के पास भूमि है। परंतु इंडो-योरोपीय भाषा-परिवार में शोध के फलस्वरूप यह सामने आया कि 'जानि' शब्द वही है, जिसे ग्रीक या लेटिन में 'जाने' कहते हैं, जिसका अंग्रेज़ी पर्याय रानी है। अतः अब यह मान लिया गया है कि 'जानि' 'जाने' का ही रूप है और 'ज्य' का प्रतिरूप नहीं है, जैसा पाणिनि ने बतलाया था। संभव है कि जब पाणिनि संस्कृत भाषा को सँवार रहे थे, तब यह शब्द लुप्त हो गया हो या प्रयोग में न आता रहा हो। इस तरह से भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का केवल शास्त्रीय मूल्य है, जैसे प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों को भूगर्भ, वनस्पति, रसायन शास्त्र आदि शाखाओं में बाँट रखा गया है। समस्त विज्ञान, प्रकृति में व्याप्त एक रूप सत्य का ही प्रस्फुटित रूप है। इसी तरह मानवता या राष्ट्रीयता की एकता सांस्कृतिक अभिन्नता पर आधारित है, न कि भाषाओं के वर्गीकरण पर। भाषाओं का आर्य और द्रविड़ कुलों में विभाजन केवल शास्त्रीय है। हमारी संस्कृति एक है और समस्त भारतीय भाषाओं से अलग-अलग नाम तथा दूसरे भेदों के होते हुए भी उसकी सुवास प्रस्फुटित होती रही है।"

श्री लक्ष्मीकांतम के इस उत्तर से मेरा ध्यान एकदम एक विदेशी आलोचक के इस कथन की ओर चला गया, जिसमें उसने कहा था कि आधुनिक तेलुगु संस्कृत से दूर होती जा रही है और आज की तेलुगु में संस्कृत शब्दों के व्यवहार का प्रतिशत गत शताब्दी की तुलना में बहुत कम मिलेगा। मैंने इस प्रश्न को उनके सामने रखा और उन्होंने तुरंत उत्तर दिया, "मैं उक्त कथन से क़तई सहमत नहीं हूँ। बल्कि तेलुगु के प्रकरण में इससे विपरीत स्थिति ही सत्य है। बारहवीं शताब्दी के अंत और तेहरवीं शताब्दी के प्रारंभ में तेलुगु में एक आंदोलन चला था, जिसका आशय संस्कृत के प्रभाव को दूर करना था। परंतु आंदोलनकारियों को जितनी आशा थी, उतनी सफलता नहीं मिली। साथ ही इसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक दूसरा आंदोलन उठ

खड़ा हुआ, जिसके अंतर्गत तेलुगु और संस्कृत शब्दों के व्यवहार में समान प्रतिशत रखने की चेष्टा की गयी, फिर भी यदा-कदा उन प्रकरणों में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य हो जाया करता था, जहाँ लय, स्वरैक्य, स्वर-अवरोह, तुक और आलंकारिक गुणों को लाने की आवश्यकता पड़ती थी। इस प्रकार के प्रयोगों से भाषा न केवल उपयोगी बनती थी, बल्कि सुंदर भी। यह शैली आज भी वर्तमान है और कोई भी सोद्देश्य संस्कृत शब्दों को त्यागने का प्रयास नहीं करता। लेकिन १८ वीं और १९ वीं सदी में एक या दो ऐसे श्रेष्ठ कवि हो गये हैं, जिन्होंने अपनी संपूर्ण रचनाओं को शुद्ध तेलुगु में लिखा है। उन्हें भी संस्कृत से व्युत्पादित करने का प्रयोग करना पड़ा है, हालांकि वे समानार्थक नहीं थे। उन ग्रंथों का केवल ऐतिहासिक मूल्य है और वे क़तई लोकप्रिय नहीं हैं। कोई भी आधुनिक लेखक जिस पर पाश्चात्य विचारधारा का गहरा प्रभाव है और जो विश्व में प्रगति के बढ़ते नये चरणों के संबंध में सोचता है, नये विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अधिकाधिक संस्कृत शब्दों का प्रयोग करेगा, जब तक कि लेखक का ध्येय केवल यांत्रिक या वैज्ञानिक विषय की चर्चा करना मात्र नहीं है। इसका दूसरा विकल्प नहीं है।"

तेलुगु में संस्कृत शब्दों के व्यवहार ने स्वाभाविक रूप से एक दूसरे प्रश्न को जन्म दिया और मैं पूछ बैठा--"तेलुगु से भारतीय भाषाओं में और भारतीय भाषाओं से तेलुगु में अनुवाद करने के लिए आपकी दृष्टि में कौन सा तरीक़ा सर्वोत्तम है ? सीधे भारतीय भाषा से या अंग्रेज़ी के माध्यम से ?"

चश्मे को ठीक करते हुए तथा इत्मीनान की मुद्रा में बैठते हुए उन्होंने इस ढंग से उत्तर देना प्रारंभ किया कि उन्हें इस पहलू पर बहुत कुछ कहना है। वे बोले, "इसमें संदेह नहीं कि कई भाषाओं में प्रसिद्ध अनुवादक हैं, जिन्होंने मूल ग्रंथों के साथ अनुवाद-कार्य में न्याय किया है। ऐसे भी कई व्यक्ति हैं, जिन्हें दो भाषाओं पर पूर्णाधिकार है। वे दोनों भाषाओं की प्रकृति, उसके लोक-साहित्य तथा साहित्यिक पहलू से पूरी तरह परिचित हैं । पर एक अच्छे अनुवाद-कार्य के लिए केवल एक भाषा पर पूर्णाधिकार हो और दूसरी भाषा का कामचलाऊ ज्ञान होना यथेष्ठ नहीं है। दो भाषाओं पर पूर्णाधिकार रखने वाले व्यक्तियों को अनुवाद-कार्य दिया जाना चाहिए। यदि ऐसे व्यक्ति न मिल सकें, तब पुस्तक को पहले संस्कृत में अनुवाद कराया जाय और तत्पश्चात संस्कृत संस्करण से दूसरी प्रादेशिक भाषा में अनुवाद कराया जाय। अनुवाद के लिए ग्रंथ को अंग्रेज़ी माध्यम में न लाया जाय। एक प्रादेशिक भाषा संस्कृत के प्रयोग से क्षतिग्रस्त नहीं होती, लेकिन अंग्रेज़ी से होती है।"

भाषाएँ साहित्यागार का प्रवेश-द्वार हैं, यह सोच कर मैंने पूछा, "एक तेलुगु न जानने वाले व्यक्ति को तेलुगु-साहित्य के सौंदर्य का आनंद पाने के लिए क्या पढ़ना चाहिए ?"

"मैं आपको सबसे पहले तेलुगु में 'शतकम' पढ़ने की सिफ़ारिश करूँगा," उन्होंने कहा। "शतकम सौ पदों की कड़ियाँ हैं जो प्रकृत्या गेय हैं। उनकी रचना अपने प्रभु के भाव-विभोर महागान से प्रसूत हैं। तेलुगु के महाकाव्यों की परंपरा में शतकम साहित्य की महत्ता प्रबंध काव्य के बाद की जाती है और इस तरह उसकी यथोचित महत्ता है। प्रबंध काव्य और शतकं तेलुगु

साहित्य की विशेषताएँ हैं । शतक का पठन-पाठन व्यक्ति में धार्मिक भावना उद्वेलित करता है और आपको एक भक्त कवि की संगीतात्मक प्रार्थना को सुनने का सौंदर्यात्मक संतोष देता है । इस तरह एक दर्जन काव्य-पाठ के उपरांत आपकी इच्छा स्वतः अधिक गंभीर साहित्य जैसे प्रबंध काव्य पढ़ने की होगी। तेलुगु में शतक-लेखन ११ वीं सदी में प्रारंभ हुआ और तब से अनवरत चल रहा है ।"

चूँकि श्री लक्ष्मीकांतम जी को दूसरे आवश्यक कार्य से जाना था, दो अन्य प्रश्नों अर्थात आपकी दृष्टि से साहित्येतिहास-लेखन के मूल सिद्धांत क्या होने चाहिए और क्या भारतीय साहित्यों के लिए आलोचना का एक मानदंड निर्धारित किया जा सकता है, भविष्य में चर्चा के लिए छोड़ दिये गये ।

मुझे डर था कि क्या सुप्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री श्री लक्ष्मीकांतम जी मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रगल्भता से दे कर कहीं मुझे चुप तो नहीं कर देंगे ? परंतु सहज वार्तालाप ने मुझे शीघ्र आश्वस्त कर दिया कि वे उतने ही विनम्र हैं, जितने वे दूसरे सुप्रसिद्ध साहित्यकार जिनसे मैं पहले मिल चुका था।

—१६८४ बी०, माल रोड,
अजमेर (राज०)

सहवर्ती साहित्य

पंजाबी

करनजीत सिंह

अधुनातन पंजाबी कहानी

विगत दिनों मेरा एक मित्र, जो स्वयं एक नामवर कहानीकार है, कहने लगा, 'मैं कहानी को दफ़नाने लगा हूँ।' उसका विचार था कि कहानी अपनी सभी संभावनाएँ और सामर्थ्य समाप्त कर चुकी है। और अब यह इतनी फुसफुसी, इसका विषय इतना घिसा-पिटा और इसका रूप इतना बिगड़ा हुआ और आकार इतना छोटा हो गया है कि चुटकुलों से अधिक यह कुछ भी नहीं रही। इसमें विचार, घटनाएँ एवं अनुभव जो प्रस्तुत हो रहे हैं, पहले कई बार प्रस्तुत हो चुके हैं।

हमारे बीच उपर्युक्त वार्तालाप से पहले कुलवंत सिंह विर्क ने भी इसी विषय पर विचार प्रकट करते हुए कहानी को 'आरसी' में 'साहित्य का एक अधूरा रूप' कहा और इससे पूर्व अपनी असंतुष्टता प्रकट की थी, क्योंकि उनके मतानुसार यह जीवन के विषय में कुछ गहरी नहीं बैठती। और मेरे मित्र का भी यह विचार था कि वह 'कथा-मृत्यु' की घोषणा कर दे, भले ही स्वयं बुरी-भली कहानियाँ लिखता ही रहे।

मेरे सामने इस बात का एकाकी उत्तर था, जो अपने में एक प्रश्न भी था कि कहानी किसी छोटी सी घटना, किसी छोटे से एहसास या अनुभव, किसी पात्र के जीवन की कोई छोटी सी झाँकी प्रस्तुत करने के लिए जन्मी थी, किंतु साथ ही यह 'छोटापन' महत्व की वस्तु होती है। इस 'छोटी वस्तु' को ही साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करने के लिए उपन्यास के स्थान पर कहानी आयी। उपन्यास में जीवन को कहीं अधिक चित्रित किया जा सकता है और उसमें 'कुछ गहरा'

दर्शाया जा सकता है। इस तरह कहानी उपन्यास का पर्याय नहीं थी। क्या आजकल 'छोटी वस्तु' का महत्व कम हुआ है, या छोटी वस्तु जीवन का हिस्सा नहीं रही अथवा तकनीकी रूप में कहानी उसे अंकित करने में असमर्थ रही है? यदि बहते जीवन-प्रवाह में 'छोटी वस्तु' की महत्ता स्थापित है, किंतु कहानी चुटकुला होती जा रही है तो दोषी लेखक ही है। यदि वस्तु ने अपना रूप बदल लिया है अथवा नयी वस्तु पैदा हुई है, जो कहानी में समा नहीं सकती, तो कहानी को दफ़नाने की ज़रूरत नहीं, नयी वस्तु अपना नया खोल (बर्तन) ढूँढ़ लेगी।

बहुत दिनों के बाद मेरे मित्र ने बात शुरू की, 'सिरजना पढ़ी है? विरदी की कहानी 'तारे तोड़ना' बहुत कमाल की चीज़ है। मुझे संदेह होने लगा है कि पंजाबी कथाकारों की सूक्ष्म बुद्धि यहाँ तक पहुँच गयी है।' मैंने यह कहानी पढ़ी हुई थी, इसलिए मुझे इस पर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ।

हमारे आलोचकों का सदैव यही मत है कि साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में पंजाबी कहानी पर हमें गौरव है।

पंजाबी में कथा-साहित्य के प्रवर्तक सुजान सिंह, संत सिंह सेखों, कर्तार सिंह दुग्गल आदि की कुछेक कथा-रचनाएँ निश्चय ही उच्च कोटि की हैं। इनके बाद के दौर के लेखकों—जसवंत सिंह कंवल, कुलवंत सिंह विर्क, संतोख सिंह धीर, नवतेज सिंह—ने हमारी इस परंपरा को बनाये रखा है। और आज पुनः अजीत कौर (एक मरा हुआ क्षण, माँ-बेटा), जसवंत सिंह विरदी (तारे तोड़ना, स्टैथोस्कोप), अजीत सिंह (फिर से फूटा अंकुर), बूटा सिंह (माई सधरां), केवल सूद (दुखों के गाड़ीवान), सुखबीर एवं कुछ अन्य नाम ऐसे हैं, जिनके कारण पंजाबी कहानी का माथा ऊँचा है।

आज साहित्य में किसी विधा पर बात करें, किसी लेखक पर चर्चा चलायें, नये और पुराने का प्रसंग स्वतः ही आ जाता है। विगत कुछ वर्षों से परंपरा और प्रयोग, नवीनता एवं प्राचीनता हमारे बीच वाद-विवाद का गंभीर विषय रहे हैं।

कथा-प्रसंग में मेरे एक विद्वान मित्र ने 'लौ चुबारे दी' में भूमिका लिखते हुए संदर्भ उठाया है और मुख्यतः यूँ विचार प्रकट किये हैं—'लेखकों के तीन वर्ग हैं। प्रथम प्रशंसक वर्ग, दूसरा निंदित लेखकों का, तीसरा वैज्ञानिक—अश्रद्धालुओं का। प्रथम दो वर्गों की कला-साधना सहानुभूति या घृणा है और तीसरे की निर्मोही विश्लेषण है।" प्रथम दो श्रेणियों में आध्यात्मिक एवं साम्यवादी साहित्य को रख कर इसे अति-भावुक एवं प्राचीनता का प्रतीक माना जाता है। तीसरी कोटि के साहित्य को नवबोध का समर्थक कहा है। और बूटा सिंह (उपर्युक्त पुस्तक के रचयिता) इस तीसरी कोटि में रखे गये हैं।

मेरे विचार में ये सिद्धांत एवं परिणाम ग़लत हैं। मैं समझता हूँ कि कला-साधना सदा ही समझना-समझाना होता है और साहानुभूति या घृणा कला-प्राप्ति। समझने-सुझाने की क्रिया उप भावुक स्तर पर ही हो सकती है एवं बौद्धिक या वैज्ञानिक स्तर पर भी। प्रथम मंच पर घृणा या सहानुभूति स्वीकृत्व-स्तर पर ही बनी रहती है एवं दूसरे मंच पर सूक्ष्म स्तर में भी। बहुताय आध्यात्मिक एवं आज तक के साम्यवादी साहित्य का अधिकांश (पंजाबी) भाग इस

प्रसंग में लिया जा सकता है। किंतु नवीन साहित्य भी समूचा दूसरी कोटि में नहीं आता। एक बात और कि घृणा या सांत्वना परिस्थितिजन्य या रुचि के अनुसार होती है। व्यक्ति या वर्ग तो उनका प्रतीक भर होता है। सांत्वना और घृणा का स्वर हर नवीन साहित्य में, प्रत्येक प्रगतिशील साहित्य में, बल्कि प्रत्येक अमर साहित्य में मुखरित होता है। निस्संदेह बूटा सिंह सहित। (यद्यपि उसकी हाल की कहानियों केसरी युद्ध, दरार आदि से यूँ लग रहा है कि वह कलाकार कम, फ़ोटोग्राफ़र अधिक है, जिसके 'फ़ोकस' में वह 'डिटेल' नहीं, जो प्रभावोत्पादक सिद्ध हो।)

सभी उभरते कहानीकारों की रचनाओं में यह स्वर हावी है। अजीत कौर, गुरबेल सिंह पन्नू, जसवंत विरदी, अजीत सिंह, सुखबीर, महेंद्र सिंह जोशी, रामसरूप अणखी, मोहन भंडारी, शिवनाथ, मेहर सिंह, नवतेज पुआधी, केवल सूद, जगजीत आहूजा, त्रिलोक आनंद, बलदेव सिंह का यहाँ नाम लेना अपने प्रसंग से बाहर नहीं लगता।

जीत सिंह की कहानी 'फिर से फूटा अंकुर' पर मैं विशेष चर्चा करना चाहूँगा। यह कहानी (लेखकानुसार) पत्र रूप में अपने एक मित्र को संबोधित है, जिसमें उसके पिता के विषय में, जिसकी लेखक ने एक पुराने अंकुर से तुलना की है, चर्चा की गयी है। कथा में लेखक ने मित्र को उसके पिता की त्रुटियाँ और विशेषताएँ, मजबूरियाँ और कमज़ोरियाँ संकेत कर दोनों चरित्रों को यूँ उजागर किया है कि हम एक ही समय दोनों को दोषी मानते हैं और निर्दोष भी। लेखकीय कला-कौशल इसी में है कि उसने व्यक्तियों को नहीं, रुचियों को हमारी सहानुभूति या घृणा का पात्र बनाया है। और प्रतीकात्मक ढंग से सुझाया है कि पुराने अंकुर भी फूट सकते हैं, यदि उन्हें खाद और पानी सुयोग्य मिले और वातावरण को उनके अनुकूल बनाया जाय।

उपर्युक्त भूमिका में ही मेरे मित्र ने सफल व्यंग्य का ज़िक्र किया है। यदि बूटा सिंह एक सफल व्यंग्य-लेखक हैं तो (उपर्युक्त पुस्तक में) यह बात स्वतः ही मेरे कथन की पुष्टि कर देती है। व्यंग्य किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति निजी रोष नहीं होता। यह किसी आदर्श के प्रसंग में, अपनत्व को एक ओर रख कर की गयी सामाजिक निंदा होती है। व्यंग्यात्मक रचना निश्चय ही एक ओर किसी स्थिति के लिए, सामाजिक वातावरण के लिए, घृणा-भाव प्रकटाती है एवं दूसरी ओर उस स्थिति का, वातावरण का, शिकार हुए व्यक्ति के प्रसंग से बाहर तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

अन्य कई हमारे आज के कहानीकार पंजाबी में इस हथियार का प्रयोग कर रहे हैं। शायद ही कोई ऐसा कथाकार हो, जिसने इस नश्तर की चुभन दे कर किसी सामाजिक कैंसर का ऑपरेशन न किया हो। अजीत कौर की कहानी 'हाट वाटर बॉतल', मोहन भंडारी की कहानी 'माँ, मुझको टैगोर बना दे,' शिवनाथ की कहानी 'धर्म की कमाई', विरदी की 'स्टैथोस्कोप', मोहन सिंह की 'जाति के रक्षक', दुग्गल की रचना 'एक जनाज़ा और' आदि सफल व्यंग्य हैं।

व्यंग्य सहजावस्था में जन्मता है। हमारा आधुनिक शोषक समाज अंगहीन खाट की तरह, सहजता का ही एक रूप है। जीवन के बहिर्मुखी सहजपन के टकराव का चित्रण हमारे साहित्य में पर्याप्त हुआ है। कहानी भी इस चित्रण में पीछे नहीं रही। आज भी शिवनाथ, गुरदयाल सिंह, रामसरूप अणखी प्रायः अधिक सूक्ष्मता से इसी सहजता को प्रस्तुत कर रहे हैं।

ये ऐसे लेखक हैं, जिन्हें हमारे ग्रामीण जीवन का निजी एवं गहरा अनुभव है। गुरदयाल सिंह निश्चय ही दूसरे दोनों लेखकों से अधिक परिपक्व कथाकार हैं। शेष दोनों इस क्षेत्र में नये लेखक हैं। जगजीत सिंह आहूजा एक और लेखक हैं, जो मानसिक तनाव के कारण ही बाहरी तनाव का प्रतिरूप होता है, सामाजिक, वर्गीय तनाव और उलझे हुए मानदंडों की गहराई तक पहुँच कर सत्य को पहचानने में समर्थ है। (आग का दरिया)

मेहर सिंह की कहानी 'पागल' बाहरी और भीतरी टकराव की चित्रकारी का एक सुंदर मिश्रण है। मध्यवर्गी बुद्धिजीवी तो भारद्वाज (पागल) का मन, अपनी भीतरी मानवीय त्रुटि के प्राकृतिक परिणाम के कारण, वर्गीय मूल्यों के संघर्ष का अखाड़ा हो निकलता है, जो उसके पगलाने का मुख्य कारण है। दूसरी ओर सेठ किशोरीलाल उसी दोष का भागी स्वयं है, जिसकी सज़ा वह डॉक्टर को दे रहा है। सेठ उन्हीं वर्ग-मूल्यों का प्रतीक है, डॉक्टर जिनका विरोधी था। एतदर्थ उनकी टक्कर को वर्ग-संघर्ष का ही रूप समझना चाहिए।

विगत दिनों मनुष्य के भीतर झाँकने की वृत्ति बढ़ी है। यह कोई बुरी बात नहीं। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि मनुष्य की भीतरी सहजता या तुलना को जीवन के चौखटे की सहजता में रख कर बाँचा और प्रकाशित किया जाय। जसवंत सिंह बिरदी की कहानियाँ 'स्टैथोस्कोप', 'तारे तोड़ना', 'बर्फ़', 'मैट्री-मोनियल 'मुझे इस दृष्टि से सफल प्रतीत हुई हैं। उसका भीतरी मनुष्य जैसे मर गया है और इस यांत्रिक युग में एक महीन (बेजान स्टैथोस्कोप) से अधिक कुछ नहीं। अजीत कौर की कहानी 'हाट वाटर बादल' की अंजू और 'एक मरा हुआ पल' की अपर्णा इसी सहजता के हाथ से यातना सह रही हैं। उड़ती नज़र में ये कहानियाँ ख़ाली सेक्स से सबधित जान पड़ती हैं, किंतु वस्तु-दर्शन वस्तुतः यह नहीं। इन कथाओं में मानवीय आत्मा और आत्मिक प्रसन्नता सिक्कों और शारीरिक प्रसन्नता की तुलना में रखी गयी हैं। कुलदीप सिंह विर्क की कहानी 'रसभरिया' भी इसी तरह की एक कृति है। मध्यवर्गीय नागरिक समाज इन कहानियों की पृष्ठभूमि है, जिसके गहरे जाने की अवस्था की चोटी दुग्गल की कहानी 'एक जनाज़ा और' में दृष्टिगोचर होती है। कहानी का मुख्य पात्र दफ़्तर का एक बाबू है, जो कठिनता से प्राप्त किये क्वार्टर के छीन लिये जाने के भय से अपनी पत्नी के किसी तीसरे आदमी के साथ लिंग-संबंध की बात को जिसका शोर भी, पत्नी को उस ग़ैर पुरुष के साथ सो रही देख कर, उसने स्वयं ही किया था, डकार जाता है।

ओवर टाइम लगाते उस बाबू के पास, अपनी पत्नी के साथ बैठने का, उसके दुख सुनने का, उसके मन बहलाने का समय नहीं है। इसीलिए यह बेचारी तंग आ कर (जैसी उसके शरीर में ख़ून की धड़कन है) अपनत्व कहीं अन्यत्र सौंप देती है।

कहानी में तनिक गहरे उतरें तो दोनों निर्दोष हैं। सही कमी तो उस रिक्तता में है, उस अपाहिज समाज में है, जिसने उन्हें इस अवस्था में ला बिठाया है। और यह है शोषक समाज, जहाँ प्रत्येक प्राणी एक रेस में बराबर व्यस्त है। पैसे की दौड़, पद की दौड़, सुख-आराम की दौड़ बहुत कुछ ले कर भी, प्राप्त कर के भी भूखा है, अतृप्त है। यह प्रतियोगी समाज है। हर प्राणी आगे जाना, जीतना चाहता है, इसलिए वह इर्द-गिर्द को भूलकर, आदर्शहीन भागा जा रहा है।

उसके पास समय नहीं, कहीं ठहरने का, किसी की बात सुनने का, किसी की हँसी, किसी के रुदन में शामिल होने का। परिणामस्वरूप जीवन एकाकीपन, निराशा एवं व्यग्रता में व्यस्त है। साहित्य में इनका प्रभाव निंदनीय नहीं, जो लेखक का लक्ष्य ही न हो सके, यदि वह इन्हीं का आशिक न हो जाय।

—अनु० : फूलचंद 'मानव',
१८५/११ एफ़, २३—ए सेक्टर,
चंडीगढ़—२३।

कहानी

●

सुजान सिंह

रज़ाई

छुट्टी के समय जब स्कूल मास्टर स्कूल से बाहर निकलता, तब वह लड़कों की एक बाढ़ में होता। कई बार उसे ऐसा प्रतीत होता कि लड़कों की बाढ़ में वह एक नौका की तरह है। आज उसने सोचा, यदि लड़कों का यह प्रवाह सदैव इसी भाँति न चलता रहे, तो उसका जीवन भी सूखी नदी के बालुकामय तट पर व्यर्थ पड़ी हुई नौका की भाँति निकम्मा हो कर ही रह जाय। उसने फिर सोचा कि नौका तो ठीक है। प्रत्येक वर्ष वह विद्यार्थियों के झुंडों के झुंड परीक्षाओं के किनारे से पार उतारता है। उसकी समझ में न आया कि विद्यार्थी जल-प्रवाह और यात्रियों का झुंड, दोनों चीज़ें कैसे बन सकते हैं! आखिर प्रवाह तो चलता ही था—जिस पर उसके जीवन की टूटी-फूटी नौका तैर कर एक काम करती जा रही थी। कठिन से कठिन गणित के प्रश्नों को मिनटों में निकाल लेने वाली उसकी प्रतिभा, उस अदृष्ट प्रवाह को समझ सकने में असमर्थ थी।

मास्टर ने सहज स्वाभाविक कई परिचित व्यक्तियों के सलामों का उत्तर हाथ जोड़ कर दिया। कई की नमस्ते, सति श्री अकाल, जय रामजी की, झुक कर व्याजसहित वापस की। परंतु अंदर ही अंदर उसे कोई फ़िकर खा रही थी। बाज़ार में तो वह मशीनी हरकतें करता चला जा रहा था। सहसा उसे एक दौड़ती आ रही गाय बाह्य होश में ले आने में समर्थ हुई। वह हैरान था कि वह किसी के साथ क्यों नहीं जा टकराया या समीप में बह रही गहरी नदी में ही क्यों नहीं जा गिरा।

मोड़ मुड़ते हुए उसने एक कबाड़ी की दूकान पर एक पुरानी लटकती हुई रज़ाई देखी। अंदर से काँपते हुए उसने इधर-उधर देखा। कहीं उसे किसी ने पुरानी रज़ाई की ओर ललचायी नज़रों के साथ देखते हुए देख तो नहीं लिया? वह जल्दी से मोड़ मुड़ गया।

मास्टर पाँच बच्चों का पिता है। आजकल वह इनको पाँच ग़लतियाँ कहता है। पुराने जर्मन और आजकल के रूस में शायद उसकी स्त्री को अधिक बच्चे पैदा करने का मेडल और इनाम मिलता। वह सोच रहा था कि कैसे हालात ग़लतियों को दुरुस्तियाँ और दुरुस्तियों को ग़लतियाँ बना देते हैं। काश! कि हालात सबके वश में होते। हालात की कुंजी केवल कुछ एक के हाथ में ही न होती।

पाकिस्तान से आये तीन रिश्तेदार भी उसके पास रहते हैं। कभी उन्होंने भी इसकी कठिन घड़ी में सहायता की थी, जब वे स्वयं खुशहाली में थे। मास्टर की तन्ख़ाह अब सब कुछ मिला कर एक सौ साढ़े सत्ताईस रुपये है। बड़ी तन्ख़ाह है। केवल वह आटा, जो सहायता दिये जाने के समय दो रुपये तेरह आने मन बिकता था, अब तीस रुपये मन बिकता है। परंतु मास्टर की तन्ख़ाह तो माक़ूल है। एक सौ साढ़े सत्ताईस रुपये, प्रावीडैंट फ़ंड काट कर। अतः अब कठिन समय में उन्हें कैसे सहारा न देता? कृतघ्न कहलवाने का भी तो मूल्य होता है न।

राशन-डिपो पर कई लोग खड़े थे, परंतु मास्टर साहब को डिपो से भी कुछ नसीब नहीं होता था। मास्टर साहब की तन्ख़ाह एक सौ साढ़े सत्ताईस रुपये है। बतायी हुई रक़म से एक रुपया अधिक लेने वाला भी डिपो से सस्ता राशन लेने का हक़दार नहीं और मास्टर साहब तो पूरे ढाई रुपये अधिक लेते हैं। उसके साथी किरायेदारों में एक बैंक क्लर्क भी था। वह एक सौ पंद्रह तन्ख़ाह लेता था। उसकी पत्नी और वह, बस यही उसका परिवार था। उसको डिपो से सस्ता राशन मिलता था। परंतु मास्टर साहब का परिवार भी तो तन्ख़ाह की तरह बड़ा था, इसलिए वह किसी रियायत का हक़दार नहीं था।

मास्टर ने देखा कि उससे कई गुना अधिक हैसियत वाले डिपो से राशन ले रहे थे। परंतु वे तो दुकानदार थे, कोई नौकरी-पेशा नहीं थे। बेचारी गवर्नमेंट के पास भी तो उनकी स्वयं लिखी बहियों के सिवाय आमदनी मापने का कोई यंत्र नहीं था। मास्टर झूठ नहीं बोल सकता था। उसे सभी सज्जन कहते हैं। कोई तनज़ के साथ भी, जैसे लुच्चा या बेईमान होना कोई गुण होता हो। मास्टर क़ानून का पक्का पाबंद है। पढ़े-लिखे आदमी को क़ानून का उल्लंघन करने की वैसे भी अधिक सज़ा मिल सकती है। मास्टर साथ में देश-भक्त भी है। अपने या अपने संबंधियों के कारण वह देश और क़ौम का नुक़सान नहीं सहन कर सकता।

मास्टर रास्ते से गुज़र गया, सब कुछ देखता। उसको फिर रास्ते में रज़ाई का ध्यान आया। नयी रज़ाई के लिए कम से कम बीस रुपयों की आवश्यकता है। उसने हिसाब लगाया : ढाई मन आटा, तीस दूने साठ और पंद्रह, पचहत्तर रुपये, घी वनस्पति बारह रुपये, ईंधन पन्द्रह रुपये और बड़ी रक़म उसे बाद में याद आयी, किराया तीस रुपये, दूध-चाय के लिए तेरह रुपये और इसी तरह आगे। कुल जोड़ एक सौ छिआसी रुपये। बजट में हर मास लगभग साठ रुपये का घाटा। उसे बजट बैलेंस करना चाहिए। परंतु उसने गृह-विज्ञान के अनुसार कई किताबों और रिसालों के लिए ख़र्च की जा रही सात रुपये की रक़म के सिवाय कुछ भी अनावश्यक न प्रतीत हुआ। वह मन में ही इस ख़र्च पर लकीर लगाने लगा था, परंतु उसे प्रतीत हुआ कि यह ख़र्च उसकी ख़ुराक पर हो रहे ख़र्च से भी अधिक ज़रूरी है। आख़िर उसने सोचा, मैं हेडमास्टर साहब की आज्ञा से एक ट्यूशन रखूँगा। तीस की आमदनी बढ़ जायगी, तीस का ख़र्च कम करूँगा, जैसे-तैसे। परंतु रज़ाई के लिए बीस रुपये कहाँ से आयेंगे ? सर्दी के लिए वह बड़ी ज़रूरी चीज़ है। अतिथियों को अलग-अलग चारपाई-बिस्तर देना तो अत्यावश्यक था। तीन लड़कियाँ इकट्ठी सोती थीं, एक ही चारपाई पर। एक ही रज़ाई में सोने से क़द बेढंगे हो जायँगे। लड़कियों के क़द-बुत बेढंगे हो जाने से उनकी आजकल की दुनियाँ में कोई पूछ नहीं। कल उसने अपनी पत्नी को उनमें से बड़ी को अलग सुलाने के लिए कहा था।

"थोड़ी चारपाइयाँ हैं कैलाश ? फिर तू इनको अलग-अलग क्यों नहीं सुला देती ?"

कैलाश ने नम्रता से उत्तर दिया, "चारपाई तो एक अधिक है, परंतु रज़ाई फ़ालतू कोई नहीं। अभी तो बिल्लू भी मेरे साथ सोता है।"

बीस रुपये की रज़ाई। आगे ही बजट में घाटा है। तीस की ट्यूशन, तीस ख़र्च से बचाने पड़ेंगे। परंतु बीस और रज़ाई के लिए कहाँ से आयेंगे ? उसे ध्यान आया कि परसों उसने अपनी किताबें और रद्दी बेच कर सात रुपये बारह आने बट्टे थे। परंतु रज़ाई के लिए बीस रुपये। वही। कबाड़ी से पुरानी रज़ाई। हाँ, ठीक है, कल पता करूँगा।

कई दिन वह सबेरे अवसर की तलाश में रहा। दिन के समय उसका कबाड़ी से फिर पूछने का साहस न हुआ। एक कदन रात के समय गया। बाज़ार बंद था। बेचारा 'नेशनबिल्डर' क़ौम का उस्ताद, निराश वापस आया। बनाने वाला स्वयं बनाये जाने वालों के हाथों क्या बन रहा था।

उसने फिर सोचा, आख़िर सुबह ही अवसर निकाल कर काम बनेगा। कम्बख़्त रज़ाई भी ऐसी थी, जिसे कोई ख़रीदता ही नहीं था। किसी के सामने ख़रीदते इज़्ज़त जाती थी— यदि उसकी नहीं तो अध्यापक श्रेणी की और साथ ही क़ौम की। बेचारा मास्टर क्या कर रहा था ? किससे क्या छिपा रहा था ? उसने फिर सोचा, वह 'इज़्ज़त' को आँच नहीं आने देगा।

रविवार तो नहीं था, परंतु छुट्टी का दिन था। वह अपने बड़े लड़के को साथ ले कर उस दुकान पर गया। रज़ाई बदस्तूर वहीं पड़ी थी। वह एक ही हमला मार कर दुकान में चला गया। सात रुपये में सौदा हो गया। रुपये दे कर वह शीघ्र वापस निकल आया। दस क़दम ही चला होगा कि किसी ने आवाज़ लगायी, "मुर्दे से उतारी हुई रज़ाई ख़रीद ली ?"

मास्टर से पीछे मुड़ कर देखे बिना न रहा गया। कहने वाला एक दर्ज़ी था, पास ही मास्टर का एक शिष्य भी था, जिसे आज से उसके घर पढ़ने आना था। उसने भी मास्टर के समीप आ कर कहा, "यह तो मुर्दों से उतारी हुई रज़ाइयाँ बेचता है मास्टर जी।"

मास्टर ने सत्य जैसा झूठ बोला, 'हाँ काका, परंतु किसी ज़रूरतमंद की ज़रूरत तो पूरी हो जायगी।"

स्वर ऐसा था, जिससे संदेह पैदा हो सकता था। कि उसने किसी और के लिए रज़ाई ख़रीदी है। आख़िर--यदि यह झूठ भी था तो धर्मराज युधिष्ठिर के बोले झूठ से बुरा नहीं था।

सारे दिन रज़ाई धूप में पड़ी रही। शाम हुई तो रज़ाई कमरे में लायी गयी। दीपक जलने के पश्चात वह लड़का पढ़ने आ गया। उसने रजाई को पड़ी देख कर नमस्ते कहने के पश्चात पूछा, "क्या मास्टर जी यह वही रज़ाई है न?"

मास्टर जी में दूसरी बार झूठ बोलने की समर्थता न रही। उसने कहा, "वही है काका, पर मैं आज तुझे पढ़ा नहीं सकूँगा, मेरी तबीयत ठीक नहीं, तुम कल आना।"

सचमुच उसकी तबीयत ख़राब थी। लड़का वापस चला गया।

मास्टर ने रसोई में काम करती पत्नी को मुर्दों से उतारी रज़ाई की ओर इशारा करते कहा, "कैलाश, नयी रज़ाई मुझे दे दो। मेरी वाली पहली रज़ाई लड़कियों को देना। हाँ, सच्च, गोमती को अलग सुलाना।"

"क्यों, आपने रोटी नहीं खानी?" कैलाश ने वह रजाई पैरों पर डालते हुए कहा।

"नहीं।" मास्टर ने कहा और रजाई अपने ऊपर खींच ली। कितनी देर वह सोचता रहा कि कौन मुर्दों पर से रज़ाई उतार लेता है और कौन जीवितों पर से, वह बड़ा बेचैन था।

—अनु०: आशानंद बोहरा,
गवर्नमेंट कॉलेज फ़ार वीमन,
रोहतक।

यात्रा-वृत्त

श्रीरंजन सूरिदेव

यात्रा पूर्णिया की : परिवेश सुधांशु जी का

प्रकृति के आगोश में बसी हुई पूर्णिया की यों तो सहज ही बहुत याद आती है। परंतु, मेरी पूर्णिया-यात्रा का उद्देश्य चूँकि एक लक्ष्मी के, दूसरे सरस्वती के वरद पुत्रों के दर्शन एव साहचर्य से जुड़ा हुआ है, इसलिए उसकी याद मेरे मन को और भी अधिक तीव्रतर भाव से अभिभूत करती है। लगभग दो सौ मील दूर, पटना के एक कमरे में, लिखने की चौकी पर, सलवटों से रहित बिछावन के बीच, अपने गीत की ही एक पंक्ति 'प्राणों में पीड़ा के रस की होती जब बरसात बहुत है; आती उनकी याद बहुत है' को गुनगुनाता हुआ जैसे मैं पूर्णिया पहुँच कर वहाँ की शस्य-श्यामलता में अंतर्मग्न हो गया हूँ, पूर्णिया की तरुराजि की हरीतिमा में घूमते-घूमते जैसे खो गया हूँ। इस खोने में मुझे पाने का मज़ा आ रहा है और रीतिकाल के रसवर्षी कवि बिहारी की स्मृति ताज़ी हो उठी है : 'अनबूढ़े बूड़े, बूड़े तिरे।' पटना में भी कभी-कभी ऐसी आत्म-विस्मृति हो आती है, फिर भी मन की गाँठें पूरी की पूरी खुल नहीं पातीं। जीवन की अनुभूति नहीं होती, दिन कटता नहीं, काटना पड़ता है।

कोई स्थान केवल भौगोलिक एवं ऐतिहासिक महत्व का ही नहीं होता। भूगोल तथा इतिहास के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक अस्तित्व में विस्मृति और प्राप्ति बनती है। लगता है, पूर्णिया के वैभवमय सारस्वत अस्तित्व के साथ मैं तदात्म हो गया हूँ या मुझमें ही पूर्णिया की सौंदर्य-माधुरी समाहित हो गयी है।

कतिपय प्रागैतिहासिक विद्वान पूर्णिया के गुप्तकालीन पुंड्रवर्द्धन से संबंध का अनुमान करते हैं। पौराणिक अनुसंधायक इसका संबंध महाभारत के राजा विराट् से भी जोड़ते हैं : कहते हैं, पूर्णिया का प्राचीन नाम 'पूर्णारण्य' था। अब भी सारा शहर जांगल परिवेश में बसा हुआ है। भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित बिहार के इस नगर का सामरिक दृष्टि से अतिशय महत्व है। यही कारण है कि यहाँ सैनिक हवाई अड्डे का निर्माण भारत-सरकार के प्रतिरक्षा-

विभाग की ओर से किया गया है। यह नगर बर्मा और पाकिस्तान से आये शरणार्थियों का केंद्र भी है। यहाँ की उर्वर भूमि में धान, तंबाकू और जूट की खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती है। यहाँ का गुलाबबाग पशुओं के मेले के लिए विख्यात है। पूर्णिया की लोककथा 'लोरिकायन' और कवि क़िफ़ायत का 'पोथी विद्याधर'––ये दोनों लोक-प्रेमाख्यानक काव्य आज भी वहाँ के कथा-कोविदों के ओठों पर उभर-उभर आते हैं। ख़ासकर, 'लोरिकायन' की स्वर-लहरी रेलवे के चलते सवारी-डिब्बों, पाट ढोने वाली बैलगाड़ियों या चौपालों में तैरती-बहती हुई मिल जाती है।

पूर्णिया की सुबह की लालस-सालस पुरवैया में अजीब अनंगीय अंगमर्द का अनुभव होता है––अद्भुत आलस्य मालूम होता है। इसीलिए, यहाँ के जनसाधारण दिनचर्या में प्रायः दीर्घसूत्री एवं 'लेट राइज़र' हुआ करते हैं। पूर्णिया के पानी में लौह-तत्व अधिक रहता है। तालाब-प्रधान क्षेत्र होने के कारण मछलियाँ सर्वसुलभ हैं। एक आकर्षक विशेषता यह भी कि यहाँ की आबोहवा में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए अधिक मांसल अनुकूलता के तत्व उपलभ्य हैं। रेणु जी ने पूर्णिया-अंचल का नाम ठीक ही 'मैला आँचल' के रूप में उपन्यस्त किया है। किंतु, स्वतंत्रता के पूर्व की अभिशप्त पूर्णिया आज वह मैला आँचल है जिसके साये में स्वास्थ्य और यौवन की मौज का संगम आँखों के लिए तीर्थ बन गया है! अब तो यह धन-धान्यमयी पूर्णिया हज़ारों-लाखों दरिद्रनारायणों के अश्रुकणों को अपने में समेटती हुई दया और ममता की, तृप्ति और पुष्टि की शतमुखी शीतल स्नेहिल धारा बन कर लहराती है।

पूर्णिया के कुरसेला स्टेट की कृषि बड़ी उन्नत और बहुख्यात है। वहाँ के दानवीर रईस बाबू रघुवंशप्रसाद सिंह बिहार के उल्लेख्य कृषकों में धुरिकीर्तनीय हैं। उनके द्वारा दी गयी भूमि पर ही पूर्णिया के प्रसिद्ध 'कला-भवन' की स्थापना हुई है। 'कला-भवन' के संस्थापक-संचालकों में प्रख्यात हिंदीव्रत विद्वान तथा बिहार विधान-सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु का नाम शीर्षस्थ है। कम शब्दों में 'कला-भवन' को सुधांशु जी की कलात्मक भावना एवं साहित्यिक अभिरुचि का स्थापत्य या वास्तु रूप कह सकते हैं। रघुवंश बाबू एवं सुधांशु जी, दोनों ने मिल कर इस भवन में लक्ष्मी एवं सरस्वती के प्रतीक––समन्वयन का दुर्लभ आदर्श उपस्थित किया है। 'कला-भवन' आंचलिक लोक-जीवन के कलात्मक उन्नयन के प्रति अधिक आग्रही रहता है। रघुवंश बाबू की लक्ष्मी को सरस्वती से कोई वैर नहीं, और सुधांशु जी की सरस्वती को लक्ष्मी से कोई दुराव या मनमुटाव नहीं। इन दोनों पांक्तेय पुरुषों की लक्ष्मी और सरस्वती समस्त पूर्णिया अंचल में मानो सपत्नी-भाव को भुला कर सखी-भाव से परस्पर क्रीडा करती हैं। कहना यह है कि पूर्णिया की भूमि की ही यह विशेषता है कि वहाँ के हर साहित्यकार के लिए लक्ष्मी का द्वार उन्मुक्त है और हर लक्ष्मीवान के लिए सरस्वती की स्वीकृति सुलभ है। यही रहस्य है कि पूर्णिया के सरस्वती-स्वीकृत साहित्यकारों (जैसे सुधांशु जी, रेणु जी आदि) की सारस्वत प्रतिभा देशांतर की सीमा का स्पर्श करती है।

अक्तूबर, १९६७ ई०। शारदी पूर्णिमा की गदराती हुई रात। पूर्णिया नगर की शरद्-चाँदनी कुछ और ही होती है। जैसे, नभ के नील चँदोवे से चंद्र-कलश का सुधा-सलिल छलक कर छिटक रहा है। दूध से नहायी, सद्य-स्नाता-सी धरती पर एक उदार यौवन की

अपूर्व भीगी-भीगी-सी हँसी छा रही है। हरसिंगार के संगमर्मरी फूलों के पलंग पर हौले-हौले करवटें लेती हुई हवा गंध-मुखर हो रही है।

पूर्णिमा के एक दिन पूर्व, चतुर्दशी की टहटह आल्हादक चाँदनी में 'कला-भवन' के मंच पर रघुवंश बाबू का, उनकी ७०वीं वर्षग्रंथि के अवसर पर, अभिनंदन का आयोजन किया गया था और दूसरे दिन शरत्पूर्णिमा को 'कला-भवन' की ओर से शरद-महोत्सव मनाया गया था।

अभिनंदन के अवसर पर, हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद के भूतपूर्व प्रकाशनाधिकारी श्री अनूपलाल मंडल (जिन्हें मैं स्नैहिक परिवेशवश 'मामा जी' कहता हूँ) द्वारा लिखित 'रघुवंशप्रसाद सिंह : व्यक्तित्व और कृतित्व' नामक एक चरित्र-ग्रंथ, बिहार के भूतपूर्व शिक्षामंत्री तथा कामेश्वर सिंह, संस्कृत विश्वविद्यालय (दरभंगा) के उपकुलपति कुमार गंगानंद सिंह ने रघुवंश बाबू को अर्पित किया। इस पुस्तक को लिख कर मंडल जी ने रघुवंश बाबू के द्वारा की गयी साहित्य एवं साहित्यकारों और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों की लंबी और ठोस सेवा को शाश्वती प्रतिष्ठा दी है और परंपरित वीर-पूजा से भिन्न, चरित्र-ग्रंथ को स्वतंत्र औपन्यासिकता में ढालने की एक मौलिक विधा का सूत्रपात किया है। इस समारोह की आरंभिकी अभिनंदन-समिति के सभापति डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने संपन्न की।

समारोह में सम्मिलित होने के बाद, पूर्णिया शहर को बीचोबीच दो भागों में बाँट कर आगे फिसलने वाले राष्ट्रीय पथ (नेशनल हाइवे) पर निःशब्द धारासार बरसती चाँदनी में नहाता हुआ मैं डाकबँगले में लौट आया हूँ। पटना के ज्ञानपीठ प्रा० लि० के संस्थापक पं० मदनमोहन पांडेय तथा वर्तमान संचालक श्री त्रिपुरेश्वर पांडेय (टीपू जी) मेरे सहयात्री हैं। मदन बाबू का उदार अभिभावकत्व टीपू जी और मेरे लिए बड़ा ही प्रिय है। मदन बाबू के बाल पक गये हैं, लेकिन हृदय में तारुण्य की छलछलाहट की अब भी कोई कमी नहीं। नये-नये प्रकाशनों द्वारा प्रकाशन-जगत में क्रांति लाने की एक पर एक स्कीमें उनके दिमाग़ में हर वक़्त चौकड़ी भरती रहती हैं। शुद्ध मुद्रण की दिशा में उनकी चिन्ता हल्की सी आहट पाते ही चौकन्नी हो जाती है।

पाश्चात्य वास्तु-शैली की बनावट वाले डाकबँगले में उतरने वाली रात अजीब रहस्यमय लगती है---रोचक और रोमांचक भी। पूर्णिया-डाकबँगले की, चाँदनी से धुली पारिपार्श्विक बनानी शुक्लाभिसारिका के विहार-स्थल की तरह, प्रणय, भय और विस्मय एक साथ पैदा करती है। अतीत के रोमांस की सहज परिकल्पना की एक मीठी-सी महक, रात में उस डाकबँगले के इर्द-गिर्द भटकती-सी मालूम होती है। हम तीनों कुरसेला स्टेट के 'गेस्ट' थे। भोजन, शयन, यान-वाहन---सबमें आरामतलबी का पूरा ख़्याल रखा गया था। लिवर का रोगी होते हुए भी, पूर्णिया की नम आबोहवा के कारण मुझे 'टी' और 'टोस्ट' में शामिल होना मुआफ़िक़ पड़ता था। हालाँकि सेब की 'वेराइटी' भी वहाँ कम नहीं थी।

सूर्योदय का समय। मैं मदन बाबू के साथ प्रातःभ्रमण में निकल पड़ा हूँ। पूर्णिया शहर से उत्तर पूर्णिया कॉलेज के खुले मैदान में हम दोनों टहल रहे हैं। वहाँ से दूरवर्ती हिमालय के

स्पष्ट दीखने वाले तुषाराच्छादित शिखर सूर्य की नवोदित रश्मियों से जगमगा रहे हैं। रश्मि-रंजित सौध-कलश-से हिमशिखर का आह्वान अनसुना नहीं किया जा सकता। उसकी सौंदर्यश्री की ओर से आँखें हटायी नहीं जा सकती हैं।

हम दोनों पूर्णिया की श्यामलश्री से आवेष्टित वीथियों से गुज़र रहे हैं। मदन बाबू पूर्णिया कॉलेज के स्व० प्राचार्य पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' के आवास की ओर संकेत कर रहे हैं। जन्मजात कवि, निबंधकार एवं प्रखर प्राध्यापक-प्रशासक तथा अथक वक्ता प्राचार्य 'द्विज' जी की द्वितीयता नहीं रह गयी! स्वाभिमानी और फ़ौलादी जीव 'द्विज' जी ने अपने संपूर्ण जीवन में फटे हुए आँचल को सी-सी कर सीने के पक्ष में कभी सहमति नहीं दिखलायी। बराबर तने ही रहे, झुके नहीं। अंत में, मृत्यु का दृढ़ता से आलिंगन कर मृत्युंजय हो गये।

सुबह का शरद-समीरण। शांत गंभीर हवा का शीतल स्पर्श। पूर्णिया की भोरहरी का आसक्त। एक अननुभूत भावना मेरी शिराओं और धमनियों में भर जाती है और मैं एक अनास्वादित और अनिर्वचनीय पुलक से सिहर-सिहर उठता हूँ। पिछड़े वर्ग के पांक्तेय नेता एवं बिहार की संविद सरकार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री (अब लोकतांत्रिक कांग्रेस-दल के नेता) श्री भोला पासवान शास्त्री के ह्रस्वकाय कुटीर (क्वार्टर) की ओर मदन बाबू इशारा कर रहे हैं। कुटीर के बाड़े के रूप में हरसिंगार और स्थलकमल की हरियाली मुखरित हो रही है। इस प्राकृतिक परिवेश से यह ज़ाहिर होता है कि प्रकृतिपुत्री पूर्णिया के इस नेता की अंतरात्मा में साहित्य की सहज सुषमा बसती है, जिसे राजनीति औचक आ कर छेड़ती रहती है।

मदन बाबू अपने वैविध्यपूर्ण विधुर जीवन के खट्टे-मीठे अनुभव और चरपरी आपबीती सुना रहे हैं। मैं यह सोच कर हैरान हूँ कि कितना रस बहता है इस वयोवृद्ध आदमी के हृदय में। बातचीत करते हुए हम दोनों एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी-चौथी वीथियों को पार कर रहे हैं। यह कला-भवन-मार्ग है। हम दोनों 'अवंतिका' पहुँच गये हैं। सुधांशु जी ने अपनी साहित्यिक भावना के अनुरूप अपने इस आवास को अन्वर्थ आख्या दी है। विशाल वृक्षों एवं सघन वल्लरियों से सज्जित 'कला-भवन-मार्ग' पर अवस्थित 'अवंतिका' का सारा माहौल सारस्वत श्रद्धा और भागवत पवित्रता से ओतप्रोत रहता है। 'युक्लिप्टस' की क़तारों के बीच से हो कर हम दोनों 'अवंतिका' के अहाते में प्रवेश कर गये हैं। पूर्णिया के आलस्यपूर्ण प्रातःकालीन वातावरण में भी सुधांशु जी बड़े तड़के उठ गये हैं। सौजन्य और आत्मीयत्व के साथ हमारा प्रणाम स्वीकार करते हैं। 'प्रणाम-स्वीकार' पर मैं इसलिए ज़ोर दे रहा हूँ कि आजकल तथाकथित बुज़ुर्ग साहित्यकारों ने विधिवत प्रणाम स्वीकृत करने के मनु-संकेत की अवहेलना कर 'प्रणाम-नमस्कार' की पवित्र परंपरा को नेस्तनाबूद कर दिया है। मनु ने कहा है कि जो गुरु अभिवादन का प्रत्युत्तर न दे, उसे नीच समझ कर अपने प्रणम्य की कोटि से बहिष्कृत कर देना चाहिए। परंतु सुधांशु जी हैं कि उनके समक्ष कुछ क्षणों तक बैठ कर ढेर सारे आत्मीयत्व अर्जित कर सकते हैं। साहित्यिक पीड़ित हो या राजनीतिक पीड़ित, सबकी दुखती-टीसती रगों पर वे बड़े सुखद अंदाज़ से अपनी उँगलियाँ रखते हैं।

सुधांशु जी 'अवंतिका' के अहाते में लगे पेड़-पौधों से परिचय करा रहे हैं। मगही पान

की लतर की ओर वे विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। स्वयं वे पान के बेहद शौकीन हैं। उनका पनडब्बा कभी खाली नहीं होता। ज़र्दे की डिबिया भी भरी रहती है। हर- सिंगार और स्थलकमल तो पूर्णिया के प्राकृतिक वैभव को गंध-अंध किये रहते हैं। पंक्तियों में सजे नन्हें उजले सुकुमार फूलों से लदे हरसिंगार को काननश्री की मधुमती मुस्कान की रेखा मानना अच्छा लगता है।

'अवंतिका' को एक संपन्न सुसज्ज पुस्तकालय समझिए। पुस्तकालय के ऊपरी कक्ष पर सुबह की पीली गुलाबी धूप में मोढ़े पर बैठे सुधांशु जी के साथ शुद्ध दूध में बनी 'फ़्लेवरेबुल' चाय की चुस्की चल रही है। राजनीतिज्ञता को बराबर परास्त कर उस पर हावी रहने वाला सुधांशु जी का साहित्यिक एवं शारीरिक व्यक्तित्व सबको पुलकित कर रहा है। राजनीति से बराबर कतरा जाने वाली उनकी साहित्य-चर्चा सुन कर मन आप्यायित हो रहा है। वे कह रहे हैं कि किस प्रकार उन्हें अपनी लिख्यमान काव्यशास्त्र पुस्तक के लिए अनेक 'प्वाइंट्स' दैनिक पत्रों में मिल जाते हैं, जिनको वे अपनी नोटबुक में अंकित करने में कभी अतत्पर या असतर्क नहीं होते।

बात-ही-बात में, सरल और कुंठाहीन व्यक्तित्व वाले सुधांशु जी ने पूर्णिया से आठ मील दूर अपने गाँव रूपसपुर चलने का आमंत्रण ही नहीं दिया, अपितु सौजन्यवश वे स्वयं अपनी कार ले कर डाकबँगले पर यथासमय ठीक नौ बजे उपस्थित हो गये। हम तीनों संकोच से सिमटते हुए कार में जा बैठे।

सुधांशु जी के अनुरूप आत्मज प्रो० पद्मनारायण जी कार चला रहे हैं। सुधांशु जी रास्ते के मुख्य-मुख्य स्थलों के बारे में बतलाते जा रहे हैं : देखिए, बायें सैनिक हवाई अड्डा है। यह काझा गाँव है, कविवर दिनकर जी के समधी का गाँव। कार अपनी समगति से सरक रही है। सुधांशु जी कह रहे हैं : यह जो निर्जन एकांत में सड़क के किनारे छोटा-सा तिरंगा लहरा रहा है, वह एक स्थानीय शहीद का स्मारक-स्थल है। लीजिए, अब यहाँ से मेरा निर्वाचन-क्षेत्र (धम-दाहा थाना) प्रारंभ होता है। सुधांशु जी ने अपना ट्रांज़िस्टर ऑन' कर दिया है। पटना से रसमंजरी' का कार्यक्रम चल रहा है। नीरवता में संगीत की लहरी श्रुतिमधुर प्रतीत हो रही है।

सुधांशु जी ने बताया कि अब यहाँ से मेरी कृषिभूमि शुरू होती है। खेतों में धान के पौधे लहरा रहे हैं, जिनसे सुआपंखी बालियाँ फूट निकलने को मचल रही हैं। हरियाली के हल्के स्पर्श ने सौंदर्य के रहस्य को जैसे और गहरा एवं मोहक कर दिया है। वातावरण की समरसता को भंग करने का दुष्कर्म कभी-कभार आ जाने वाली बसों एवं ट्रकों के भोंपू ही करते हैं। मैं सोच रहा था, काश, बसों एवं ट्रकों के लिए कोई विकल्प मार्ग बनाया जाता !

अंतःसत्त्वा शस्यावली की श्यामल हरीतिमा पर शारदीय दुपहरी की हल्की-तीखी धूप की स्वर्णिम कांति अँगड़ाइयाँ ले रही है। सम सड़क के दोनों किनारे नहर में पाट धोते हुए ग्रामीण कृषक एवं गाँवों की झोपड़ियों में यौवन-सुलभ चांचल्य की मस्ती में कर्मनिरत कृषक-वधुएँ ! साथ ही, पूर्णिया की भाषा 'अंगिका' में अपने मन के गोपन उद्गार को आपस में

प्रकट कर एक दूसरे को ठुच्चे मारती हुई कृषक-बालाओं की बीच-बीच में मुखरित होने वाली हँसी की सलज्ज ध्वनि। कर्ममुखर दिन।

हम लोग 'अलका' पहुँच गये हैं। पहाड़ी स्थापत्य-शैली में निर्मित अपने आवास को 'अलका' की संज्ञा देना सुधांशु जी ने इसीलिए उचित समझा होगा कि यहाँ से बैठे ही बैठे सायं और प्रातः रबि-रश्मि-विच्छुरित हिमशिखर की शोभा अखंड भाव से, अपलक नयनों से पी जा सकती है। यह 'अलका' ठीक हिमालयी आग़ोश में बसी हुई लगती है। यह 'अलका' सुधांशु जी का स्वाध्याय-कुटीर है। परिवार के सभी सदस्य 'अलका' से थोड़ी दूर हट कर निर्मित भवन में रहते हैं। 'अलका' के ऊपरी कक्ष में, सुधांशु जी जहाँ बैठ कर लिखते-पढ़ते हैं, वहाँ से ठीक सामने सुसज्जित आमोद्यान है। आमोद्यान, हरसिंगार की पंक्तियों से घिरा हुआ है और 'अलका' की बरसाती की ऊपरी छत विभिन्न विकसित फूलों के गमलों से सजी हुई एवं सलीक़ेदार! यह 'अलका' पूर्णिया से कुरसेला जाने वाली सड़क के ठीक पार्श्व में विराजती है। सचमुच, 'अलका' हृदय में कारयित्री भावना की उमंगों को उभारने-उकसाने वाली प्राकृतिक विभूति से सघन है। 'अलका' को देख कर किसी अज्ञेय की तन्मय भाव-मुग्धता का कुछ-कुछ अनुभव मैं भी कर सका था। कई स्थलों पर घूम कर, रुक कर, 'अलका' के प्रशांत, स्निग्ध, उदार सौंदर्य को मैंने आँख भर देखा।

सुधांशु जी गतिशील चरित्र के प्रति आस्था रखने वाले उर्वर मस्तिष्क के साहित्यकार हैं। वे हम अतिथियों के साथ काफ़ी पी रहे हैं और निस्संकोच अधिकार के साथ 'सेक्स' पर बातें कर रहे हैं, बड़ी प्रमाणिकता से साहित्य और राजनीति की ग्रंथियों-गुत्थियों को सुलझा रहे हैं। 'क्लियर थिंकिंग' और 'क्लियर स्टाइल' के एक ही आदमी हैं सुधांशु जी। उनके समक्ष कुंठाएँ या हीनताएँ जकड़ती नहीं, अपितु आत्मिक श्रद्धा की सरिता उमगती है। सुधांशु जी अपने सिद्धांत और विचारों में वज्रकठोर हैं, तो व्यवहार और बातचीत में सुमन-सुकुमार। उनके बारेमें श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने ठीक ही कहा है कि वे अपने चिंतन में सूर्यांशु और स्वभाव-व्यवहार में सुधांशु हैं। वे गुणदीप्त अनाम को भी प्रणाम कर सुख पाते हैं, पर दर्पदीप्त सत्ताधाम को भी ललकारने में नहीं चूकते।

'अलका' के प्रासाद-पृष्ठ पर बैठे हुए अनुभवसिद्ध मदन बाबू चलती राजनीति की बातों में सुधांशु जी को तन्मय कर रहे हैं। पर मुझे तो सुधांशु जी की साहित्यिक रसमयी टिप्पणियों में ही आनंद मिलता है। सुधांशु जी ने साहित्य और भाषा के कल्याण के लिए ही राजनीति में पैर डाले हैं, इसीलिए राजनीति के धुआँधार में भी उनका साहित्यिक व्यक्तित्व कभी मैला या गँदला नहीं होता, बल्कि वह राजनीति की गंदगी के लिए ही 'निर्मली' बन जाता है। वे राजनीति के परखचे नहीं उड़ाते, वरन उसकी तह छूते हैं। सुधांशु जी की लतों-आदतों से पूर्ण परिचित श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद', जो उनके आप्तसचिव रह चुके हैं, विनोद और चुटकुलों एवं बनारसी लतीफ़ेबाजियों में ही रस लेने की गुंजाइश निकाल रहे हैं। टीपू जी को तो हर बात 'जुलुम' ही मालूम हो रही है! और पद्मनारायण जी हैं, जो फ़ोटो लेने के चक्कर में कैमरा लिये हुए 'ऐंगिल' ढूँढ़ रहे हैं, 'क्लिक' कर रहे हैं। सुधांशु जी को भोजन में 'मालपूआ' और

'तस्मई' के साथ रोहू मछली अधिक जमती है। मेरा तो दावा है, सुधांशु जी के साथ बैठ कर उनके यहाँ की अद्भुत और अपूर्व ढंग से बनी इन तीनों चीज़ों को खाने का मौक़ा जिसे मिला है, उसे ये कभी नहीं भूलेंगी। रक्तचाप और नेत्र-दोष से चिरपीड़ित होते हुए भी सुधांशु जी को भोजन में अनुदारता या परहेज़गारी का प्रदर्शन करते हुए कभी नहीं देखा गया। जीवन की हर परत को ख़ूबसुरत देखने वाले साहित्यकार सुधांशु जी की 'अलका' साहित्यिकों के लिए सचमुच दर्शनीय स्थल है।

इस बार शरत्पूर्णिमा को आपराह्लिक चंद्रग्रहण था। और राहु की कृपा कहिए कि सांध्य किरणों के छिटकने के पहले ही उसने चाँद को उगल दिया था। मँजे हुए सोने के थाल की तरह चाँद बड़ा भला लग रहा था। सुधांशु जी से 'ग्रहण' पर बात करते हुए हम 'अलका' से फिर 'कला-भवन' लौट आये हैं। मैं 'कला-भवन' के लिए अपरिचित अजनबी नहीं हूँ। उपस्थित साहित्यकारों एवं सहृदय आयोजकों से प्रणाम-नमस्कार बीच-बीच में चल रहा है। जिनसे जान-पहचान नहीं है वे भी यदि पहचाने-से मिलते हैं तो अच्छा लगता है। साहित्यिक वातावरण ने आये हुए प्रत्येक व्यक्ति से एक अघोषित मित्रता स्थापित कर दी है।

'कलामंच' पर सुधांशु जी की अध्यक्षता में शरदुत्सव मन रहा है। दूधिया चाँदनी से चाँदी-सी चमकती धरा पर संगीत और सुरों की बर्षा अनुपम शोभा रूपायित कर रही है। पीयूष-स्रोत-सी संगीत-धारा अनवरत धोती-बहाती जा रही है सारा अंतःकालुष्य, अंतस्तल का गहन अंधकार! शिराओं में झंकृत हो रही है अपूर्व स्वर-माधुरी! सारा वातावरण सांगीतिक आस्वाद से पूर्ण, निराडंबर और अकृत्रिम! सुधांशु जी किसी भी स्थिति में असामान्य होना जानते ही नहीं और न किसी को सामान्य की मर्यादा का अतिक्रमण ही करने देते हैं। 'कला-भवन' की प्रत्येक परत घरेलू परिवेश से परिभुक्त रहती है।

कार्तिक कृष्णा प्रतिपद्! दुपहर की धूप बड़ी खुली है, जिसमें हल्का-हल्का तीखापन भी है। टीपू जी मुझे पूर्णिया के 'मरंगा शरणार्थी-शिविर' में घुमा रहे हैं। साथ में, 'खाद और मिट्टी' के लेखक श्री सी॰ पी॰ सिंह है। बड़े दिलदार और बड़े दिलचस्प। कुल मिला कर 'माई डियर' आदमी! टीपू जी सरकारी नौकरी छोड़ने के पूर्व इस शरणार्थी-शिविर के संचालकों में अन्यतम थे। अब भी शरणार्थियों की अपार चरणस्पर्शी श्रद्धा इन पर है। भीतर से टूटे और थके होने पर भी इन शरणार्थियों में आतिथ्य की भावना ऊँघती-सी नहीं मालूम देती। यह शिविर क्या है, लगभग एक हज़ार परिवारों की खासी बस्ती ही बसी है। शरणार्थियों में एक से एक कलाकार, रेडियो आर्टिस्ट, रईस और कृषक-मज़दूर मिले। किंतु ये बहुत ही अस्त-व्यस्त और बेचारे हो गये हैं। इनकी दृढ़ता और तेज़ जैसे खतम हो गये हैं। फिर भी, इनके अंदर वह ताक़त बची हुई है, जिससे ये किसी के साथ किसी विषय पर आत्म-विश्वास से बातें करते हैं। इनमें अनेक ऐसी महिलाएँ भी दिखीं, जो वर्तमान में संतुष्ट रहने की कोशिश कर रही थीं, पर उनका मन साथ नहीं दे रहा था और छिटक-फिसल कर अतीत की ओर दौड़ रहा था।

ऊपर से सभी शरणार्थी स्त्री-पुरुष गंदे और हीन दिखायी पड़ते हैं, परंतु लादी हुई विवशता पर पछाड़ खाने वाली इनकी संस्कृति की अपनी मौलिकता है और इनकी सभ्यता

की चेतना का अपना महत्व है। यह तो ठीक है कि फ़िलहाल ये शरणार्थी नागरिक जीवन के केंद्र नहीं हैं, परंतु केंद्रीय वृत्त में वे अवश्य हैं। कुल मिला कर शरणार्थियों की स्थिति ऐसी है कि देख कर अंतर्मन से एक आह उठती है और संपूर्ण मन रिक्तता और कड़ुआहट से भर जाता है।

वापसी में रघुवंश बाबू के आमंत्रण पर मामा जी हम तीनों को कुरसेला ले चल रहे हैं। रास्ते में हम मामा जी के गाँव समेली आ गये हैं। मामा जी आतिथ्य-सत्कार करते अघा नहीं रहे हैं। मामा जी ने सेवा-निवृत्त होने के बाद अपनी सारी ऊर्जा लेखन की ओर लगा दी है। वार्द्धक्य और रोग को बराबर चुनौती देने वाली उनकी साहित्यप्रसू लेखनी विश्राम लेना जानती ही नहीं। पूर्णिया ज़िले के प्रत्येक उत्तमपुरुष के प्रति शब्द-चित्र आँकने का उनका प्रशस्य संकल्प हर क्षण तीव्र बना रहता है। पूछने पर मामा जी ने स्मेरानन हो कर बतलाया कि आजकल वे अपनी अतीत स्मृति को लिपिबद्ध करने में संलग्न हैं। विद्यावयोवृद्ध कवि प्रो० मनोरंजनप्रसाद अतीत को भूलने के ख़याल से एक अजीब परेशानी-सी गुदगुदी का अनुभव करते हैं :

वे अतीत के दिन सपने-से
बीत गये, फिर भी क्या जाने, क्यों लगते वे हैं अपने-से !

शरद् की संध्या का समय। वातावरण में हल्की-हल्की ख़ुनकी-मिली सिरहरी। कुरसेला की पुरानी ड्योढ़ी में ही रघुवंश बाबू के पुनर्दशन हुए। रघुवंश बाबू के दिवंगत पिता बाबू अयोध्याप्रसाद सिंह की समाधि के अलावा उनकी साकेतवासिनी माता और स्वर्गीया पत्नी की कितनी ही पुण्य-स्नेहिल स्मृतियाँ और न भूलने वाली कहानियाँ पुरानी ड्योढ़ी में रसी-बसी हैं। इसलिए वे पुरानी ड्योढ़ी छोड़ने की कल्पना ही नहीं कर पाते। इसी ड्योढ़ी में वे उम्र की सीढ़ियाँ चढ़े हैं और भरी-पूरी गृहस्थी का बोझ झेला है एवं उतार-चढ़ाव के दिन देखे हैं। यह पुरानी ड्योढ़ी अठेल अन्न का आगार है। रघुवंश बाबू गिन-गिन कर पैसे ख़र्च करने वालों की पाँत में नहीं आते। और सद्व्यय के लिए किसी के अंगुलिनिर्देश की अपेक्षा भी उन्हें नहीं रहती। यही कारण है कि पूर्णिया ज़िले में उनकी जो प्रतिष्ठा है वह उनकी स्वार्जित है। वे बेधती दृष्टि से देखने वाले पुरुषार्थी आदमी हैं, निर्भीक और त्वरित निर्णय लेने में ज़ाहिर और माहिर भी। उन्होंने अपनी चारित्रिक दृढ़ता के प्रमाण में अपने सिहरते रोयें की ओर संकेत कर के एक अंग्रेज़ी सूक्ति का अनुवाद किया कि 'धन चला गया तो कुछ नहीं गया; स्वास्थ्य चला गया तो थोड़ा गया, और चरित्र चला गया तो सब कुछ ही चला गया।' वे सचमुच 'दानवीर' हैं। उनके ऊपर लक्ष्मी की विपुल कृपा है। वे भाग्य को पुरुषार्थ का आश्रित मानते हैं। हालाँकि, अब उनके चेहरे पर अतीत की अनुभूति से उत्पन्न वर्तमान की थकान की रेखाएँ ढूंढने का प्रयास करने पर मिल जाती हैं, किंतु उनकी प्रभावक पेशानी को देखते हुए यह राय देना कठिन है कि वे जीवन-रण से परास्त हो गये हैं।

रघुवंश बाबू, अपनी परंपरा के अनुसार हर साहित्यकार-अतिथि का सत्कार द्रव्य और

वस्त्र से करते हैं और इस क्रिया से उन्हें दान की सत्पात्रता के लिए उठने वाले अपने दर्द में थोड़ी कमी महसूस होती है। उनकी नयी ड्योढ़ी में अतिथियों के लिए बड़े सुखकर आवास की व्यवस्था है। कुरसेला की नयी ड्योढ़ी के भव्य आकार और निर्माण-कुशलता को देख कर दर्शक स्वयं उनके निर्माणकर्ताओं के आधुनिक स्थापत्य-कौशल का अनुमान लगा सकता है। ईख और धान के खेतों के बीच बिहँसता हुआ इस ड्योढ़ी का उद्यान सैलानियों के लिए एक विशिष्ट आकर्षण है। चाँदनी में थिरकते इस उद्यान में यदि दृष्टि बँध गयी, तो बँधी ही रह जाती है।

उद्यान के बीच मोढ़े पर हम सभी बैठे हैं। बड़ी दूर तक चाँदनी की झीमती-सी निस्तब्धता बिछी हुई है। रघुबंश बाबू के मृगया-प्रवीण द्वितीय पुत्र कुमार अखिलेश अपने शिकार के रोमांचक अनुभव सुना रहे हैं। चाँदनी गदराती चली जा रही है। रात गहरी हो रही है। अखिलेश जी शिकार से संगीत पर उतर आते हैं। संगीत की मादकता मन को घेर-घेर लेती है। एक से एक राग-रागिनियाँ स्वरबद्ध हो कर फूट रही हैं और तृप्ति का सारस्वत परिवेश उपस्थित हो गया है।

पूर्णिया की सात्विक साहित्यिकता, वैभवमयी प्रकृति और आमंत्रक आत्मीयत्व इन सबकी स्मृति को एक साथ शब्द नहीं दिया जा सकता। पूर्णिया जा कर सुधांशु जी के परिवेश से पर्यावृत हो कर लौटने वाले की मनःस्थिति का अनुमान आप लगा सकें तो मैं मान लूँ कि आप मेरी बात समझ रहे हैं। केवल याद की पर्तें उभरती हैं और उनमें पूर्णिया-- रेणु जी का 'मैला आँचल' और सुधांशु जी का सर्वसम्मत वैदुष्य और सौजन्य रूपायित हो उठता है और पूरे शरीर में बड़ी सुखद झुरझुरी-सी दौड़ जाती है और ऐसा लगता है, राष्ट्रीय पथ से चलने वाली राज्यपथ-परिवहन की बस से अभी-अभी पटना उतर कर डेरे वापस आया हूँ।

—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,
पटना—४।

गोष्ठी-प्रसंग

●

पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित पाँच गोष्ठियाँ

दिनांक ३१ जनवरी, १ और २ फ़रवरी, १९६९ को कई विषयों पर विचार हुआ। पहली गोष्ठी 'आधुनिकता और समकालीन हिंदी साहित्य' विषय पर हुई।

हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ० आनँदप्रकाश दीक्षित ने संगोष्ठी का स्वरूप और उद्देश्य स्पष्ट किया। डॉ० दीक्षित ने कहा, "स्वतंत्रता के बाद हम कुछ इतनी तेज़ी से नयी दिशाओं की ओर मुड़ते जा रहे हैं कि अतीत और वर्तमान एक दूसरे के विकास की भूमिका का काम न दे कर एक दूसरे के विरोधी से जान पड़ते हैं। परिणामस्वरूप हम बोध और संवेदन के संदर्भ में पीढ़ियों की दूरी और कटाव का अनुभव करने लगे हैं। संक्रमण और संक्रांति की इस स्थिति के बोध के साथ नये साहित्य-मूल्यों की खोज में ही नहीं, जीवन-मूल्यों के परीक्षण में भी प्रवृत्त होने लगे हैं। राजनीति में भटके हुए देश की छटपटाहट को व्यक्त करने और सामाजिक-नैतिक नियंत्रण के नीचे दबी हुई मानवीय सहजता को व्यक्त करने का एकमात्र रास्ता जैसे आज की आक्रोशी पीढ़ी, युवा पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी की नंगी और भदेस शब्दावली के अतिरिक्त और कोई नहीं। इस संगोष्ठी का उद्देश्य है कि आधुनिक साहित्य का एक सामान्य-सा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय और देखा जाय कि आधुनिकता हमारे लिए कितनी वांछनीय है।" तदनंतर पूना विश्वविद्यालय के कुलगुरु ने संगोष्ठी के उद्घाटन की घोषणा की। उसके बाद संगोष्ठी के अध्यक्ष बालकृष्ण राव ने अपने एक घंटे के भाषण में आधुनिकता के स्वरूप और सीमा को स्पष्ट किया। श्री राव ने कहा, "आजकल आधुनिकता शब्द का प्रयोग बहुत अधिक होता है। वास्तव में आधुनिकता शब्द अपने आपमें कोई अर्थ नहीं रखता, देश और काल से संबद्ध कर के ही इसका कुछ अर्थ होता है। आधुनिक के विरोध में ही आधुनिकता को समझा जा सकता है। सामान्य जीवन में जो चीज़ नयी है, अद्भुत है, चौंकाने वाली है, ध्यान आकृष्ट करने वाली है, जिससे हम परिचित नहीं हैं, वह आधुनिक है किंतु चिंतन के क्षेत्र में इसमें आधुनिकता नहीं है। समसामायिकता आधुनिकता नहीं है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है: जिस प्रवृत्ति, गुण, लक्षण का संबंध विस्मृत अतीत से हो और जिसका सीधा प्रभाव और संघात हमारे मन पर नहीं, उसका व्यक्तीकरण आधुनिकता है। आधुनिकता कोई मूल्य नहीं है। यह आदमी को आदमी की तरह देखने की एक दृष्टि है। आधुनिकता बहुत कुछ पश्चिम की देन है। जैसे हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में इससे अभिभूत हैं, वैसे ही साहित्य

में भी। वर्तमान हिंदी साहित्य में जो अकेलेपन का बोध, संत्रास, प्रश्नाकुलता आदि दिखायी पड़ते हैं, वे ही आधुनिकता के लक्षण हैं।" अंत में डॉ० जोगलेकर ने आभार प्रदर्शन किया।

दूसरी गोष्ठी का विषय था 'हिंदी साहित्य में आधनिकता'। गोष्ठी का प्रारंभ हिंदी विभाग के प्राध्यापक डॉ० मौर्य के प्रवर्तन-निबंध से हुआ। डॉ० मौर्य ने कहा, "हिंदी साहित्य में आधुनिकता के तत्व कुछ न कुछ सभी विधाओं में हैं, किंतु उनमें आधुनिक भाव-बोध की गहराई नहीं है। अधिकतर आधुनिकता ऊपर से ओढ़ी हुई नक़ली है, जो भाषा और शैली के स्तर पर फ़ैशन के रूप में प्रयुक्त होती है। सच्चा आधुनिक भाव-बोध विशेषणरहित उस मानव के चित्रण में है, जो किसी भी प्रकार जीवन से हार नहीं मानता। इस प्रकार का आधुनिक भाव-बोध हिंदी साहित्य में कम है।" इसके बाद श्रीमती मालती शर्मा ने अपना निबंध पढ़ा, जिसमें उन्होंने बतलाया, "आधुनिक भाव-बोध केवल उसी साहित्य में हो सकता है, जो समकालीन परिवेश से जुड़ा हो। हिंदी का अधिकतर वर्तमान साहित्य आधुनिक भाव-बोध से युक्त है।" डॉ० सिंधु भिंगारकर ने प्रयोगवाद से लेकर अब तक के साहित्य को आधुनिक भाव-बोध से युक्त कहा।" श्री रघुवीर सहाय ने आधुनिकता की मौलिक व्याख्या करते हुए यह बताया, "हिंदी काव्य में आधुनिकता किस प्रकार अवतरित हुई है। उन्होंने कहा, "आधुनिकता की व्याख्या समकालीनता से बहुत भिन्न नहीं। समकालीनता मानव-भविष्य की अपार संभावनाओं को नकार वर्तमान को यथार्थ मानती है। किंतु आधुनिकता मनुष्य के अनंत अनुभवों का द्वार खुला रख कर उसके अनंत भविष्य की ओर सकेत करती है। कविता में समकालीनता की पहचान अन्य क्षेत्रों की समकालीनता से भिन्न है। क्योंकि कविता में अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उसमें अनुभवेतर साधन नहीं आते। सभी समाजों में स्थापित वर्तमान व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने की जो चेतना है, वही आधुनिकता की सबसे बड़ी देन है। हिंदी कविता में आधुनिक भाव-बोध का स्वर सबसे ऊँचा है। किंतु कोई भी आलोचक उस निस्संग या निर्वस्त्र आधुनिकता को नहीं पकड़ पाता, जिसे कवि ने बड़ी छटपटाहट के साथ पकड़ा है। मनुष्य को पहचानना और नवीन मानव-संबंधों का अन्वेषण आधुनिकता की प्रथम शर्त है। जिस यथार्थ से हम डरते हैं, उसको उसी रूप में व्यक्त करना कवि का कर्म है। मनुष्य को मनुष्य के समान अनावृत रूप में संस्पर्श करने की प्रक्रिया या उसका अंश लगभग सभी नवीन कविताओं में दिखायी देता है।"

डॉ० प्रभाकर माचवे ने कहा, "आधुनिक भाव-बोध की बातें आज फ़ैशन की तरह हैं। हिंदी में कभी समाजवाद चला और वह कब लुप्त हो गया और बाद में मार्क्सवाद आया, वह भी चला गया, अब आधुनिकता का नया फ़ैशन चल पड़ा है। वस्तुतः वर्तमान हिंदी कवि एक संशय में है। यह भी ठीक और वह भी ठीक। किंतु आधुनिक बोध के लिए आवश्यक है कि किसी एक का चुनाव करे—यह या वह। आधुनिकता का स्वर तो आत्म-विश्वास में ही मिलता है। लेकिन भाषा की क्रीड़ा ही आज आधुनिकता है। हिंदी के आधुनिक साहित्य

का प्रवाह सबको लील लेने वाला है, क्योंकि इसमें अलग-अलग लेबल हैं, आधुनिकता नहीं। जहाँ आज तक हमारा विज्ञान पहुँचा है, उसके आगे जो साहित्य है, उसी में आधुनिकता है।

डॉ० नामवर सिंह ने कहा, "आधुनिकता भी एक लेबल है। आधुनिकता की अवधारणा आयात की हुई अवधारणाओं में से एक है। वस्तुतः आधुनिकता की परिभाषा के लिए मध्य-युग की परिभाषा आवश्यक है। भारत में मध्ययुग वह नहीं है, जो यूरोप का है। अतः वहाँ की आधुनिकता हमारी आधुनिकता से भिन्न है। आधुनिकता और समकालीनता नाम और अर्थ से ऐतिहासिक अवधारणाएँ हैं, किंतु दोनों में गुणात्मक भेद है। एक ही काल में रचना करने वालों में एक समकालीन हो सकता है और दूसरा आधुनिक। समकालीन निकृष्ट है, आधनिक श्रेष्ठ। गालसवर्दी समकालीन है और डी० एच० लारेंस आधुनिक 'साकेत' की अपेक्षा 'राम की शक्ति-पूजा' अधिक आधुनिक है। आधुनिकता इतिहास के अंतर्गत काल का अतिक्रमण है। मुक्तिबोध अज्ञेय से अधिक आधुनिक हैं, क्योंकि उन्होंने समकालीन तत्वों का अधिक उपयोग किया है। आधुनिकता मनुष्य के प्रति देखने की समझ से संबंध रखती है। आधुनिकता यह और वह के चुनाव में नहीं बँटी है। आधुनिकता परंपरा और विद्रोह के अद्भुत मिलन में है। आधुनिकता विसंगतियों से भरी हुई असंगत अवस्था में है, जहाँ शताब्दियाँ मिलती हैं। वर्तमान हिंदी काव्य में आधुनिक भाव-बोध के तत्व प्रभूत मात्रा में हैं। किंतु इसके साथ शब्दबाज़ी भी है।"

श्री बालकृष्ण राव ने अध्यक्षीय भाषण में आधुनिकता के सामान्य तत्वों, प्रश्नाकुलता, अनास्था, विद्रोह एवं सत्य की खोज का समर्थन करते हुए कहा, "आधुनिक होना, मात्र प्रत्येक संदर्भ में साथ होना नहीं है। कुछ चुनाव करना पड़ता है किंतु कुछ संशय में ही छोड़ना पड़ता है। आधुनिक होना जीवंत होने का प्रमाण है। जो सर्जन-शक्ति से पूर्ण है, वही आधुनिक है।"

मराठी के सुप्रसिद्ध आलोचक श्री श्री० के० क्षीरसागर के वक्तव्य से तीसरी गोष्ठी का प्रारंभ हुआ। क्षीरसागर जी ने दूसरी गोष्ठी के विषय का सूत्र पकड़ते हुए कहा, "आधु-निकता 'स्टेट्स को' के विरुद्ध है। यह मात्र आज की स्थिति के ही नहीं, बल्कि चिरकालीन स्थितियों के भी विरुद्ध है। आधुनिकता और नयेपन में कोई अंतर नहीं, क्योंकि आधुनिकता सर्वदा अपने सामयिक परिवेश में ही होती है। आधुनिकता के घटक तत्वों में से कुछ तो पुराने कवियों में भी पायी जाती हैं। आधुनिक बोध के लिए जिस प्रकार की गंदी भाषा-शैली का प्रयोग किया जाता है, क्या उससे अच्छी सुंदर भाषा-शैली के माध्यम से आधुनिकता नहीं व्यक्त हो सकती? वस्तुतः मैं वास्तविक और सच्ची आधुनिकता के पक्ष में हूँ; नक़ली के नहीं, जो सिर्फ़ शब्दबाज़ी होती है।"

श्री हरिनारायण व्यास ने कहा, "आधुनिकता को इतिहास से जोड़ने का प्रयत्न ग़लत है। इतिहास मृत वस्तु है और मृत वस्तु को इतिहास में लाना जीवंतता का लक्षण नहीं है। आधुनिक भाव-बोध के लिए यह भी आवश्यक है कि संशयों से अलग हट कर 'यह' या 'वह' का चुनाव करे। बिना एक के चुनाव के विद्रोह व्यक्त ही नहीं किया जा सकता।" इसके बाद

हिंदी विभाग के प्राध्यापक डॉ० दिवाकर ने तीसरी गोष्ठी के लिए नियत विषय 'आधुनिकता-बोध और हिंदी समीक्षा' पर अपना निबंध पढ़ा। डॉ० दिवाकर ने परंपरागत सैद्धांतिक और नयी मुक्त समीक्षा (रस-अलंकाररहित) की चर्चा करते हुए कहा : "आज की समीक्षा भी एक सर्जनात्मक साहित्य-विधा बन गयी है। साहित्य को कई दृष्टियों से देखा जाने लगा है। समीक्षा के मानदंडों का भी मूल्यांकन होना चाहिए। आधुनिक साहित्य की आलोचना के लिए आधुनिकता से मुक्त किसी मानदंड की स्थापना की जानी चाहिए।" तत्पश्चात डॉ० प्रभाकर माचवे ने अपना प्रवर्तन-लेख पढ़ा। डॉ० माचवे ने कहा, "हिंदी समीक्षा में रोमांटिक, क्लासिक, समाजोपयोगी, नीतिवादी धाराएँ पहले से चलती आ रही थीं। स्वतंत्रता के बाद मुख्यत: गांधीवादी और मार्क्सवादी समीक्षा का प्रारंभ हुआ। किंतु वह चल नहीं पायी। आधुनिकता के साथ आधुनिकता के नाम पर समीक्षा में छद्म या अर्ध आधुनिकता पनपती रही। लेकिन समीक्षा की पद्धति बदली नहीं, क्योंकि उसमें सत्य कहने या मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन का साहस नहीं था। अत: वह स्थिति स्थापकतावादी ही बनी रही। हिंदी समीक्षा घूम-फिर कर वहीं 'ब्रह्मानंद सहोदर' में ही डुबकी लगाती रही। आधुनिक कहे जाने वाले समीक्षक भी आनंद के जाल से मुक्त नहीं हुए। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० रांगेय राघव, अज्ञेय, नगेंद्र, सभी काव्य में आनंद को मानदंड मानते हैं। गत बीस वर्षों की समीक्षा में अंध श्रद्धा, किशोरसुलभ प्रणय-विस्मय, गुरु-पूजा, राजनैतिक विभूति-अनुकरण आदि के अलावा ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिसे समीक्षा की उपलब्धि मानें। इधर आलोचना की भाषा अधिक पैनी हुई है। सर्जन की प्रक्रिया को समझने की दिशा में भावबोध और युग-बोध का आग्रह बढ़ा है। रचना को रचनाकार से अलग कर के देखने की दृष्टि का सूत्रपात हुआ है, किंतु इनमें आधुनिक समीक्षा के बीज मुझे कहीं नहीं मिलते।"

श्री रघुवीर सहाय ने समीक्षा के संबंध में एक मौलिक प्रश्न उपस्थित किया। उन्होंने कहा, "जैसे-जैसे कविता को शास्त्र से मुक्त कर के अनुभवसम्मत करते रहे हैं, वैसे-वैसे क्या हम आलोचना का भी एक नया शास्त्र नहीं बना रहे हैं। आधुनिकता-बोध को समीक्षा-शास्त्र से बाँधना अपने आपमें विपर्यय और प्राय: असंगत है। इससे कवि को एक बार मुक्त कर के फिर बंधन में डाला जाता है। वस्तुत: प्रत्येक रचना अपनी समीक्षा के लिए मान-दंड देती है और उसके बाद वह नष्ट हो जाती है। इस कारण एक सिलसिला नहीं तैयार होता और हम समीक्षा-शास्त्र नहीं बना सकते। काव्य-क्षेत्र के विप्लव और उथल-पुथल को क्या समीक्षा सह सकेगी? आधुनिक समीक्षा के सामने यह समस्या है कि कैसे पुरानी समीक्षा-परिपाटी को हटाया जाय, पर एक के हटने पर क्या उसी प्रकार की दूसरी परिपाटी नहीं आ जायगी? प्रस्थापित सिद्धांतों के हटाने पर क्या उसकी जगह होने वाला दूसरा सिद्धांत योग्य समीक्षा कर सकेगा?"

कुछ चीज़ें शाश्वत हैं, किंतु उनका शाश्वत होना कवि के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य में दिखायी देने वाले रूप को हम किस प्रकार अभिव्यक्त कर पाते हैं, यह महत्वपूर्ण है।

इस खोज को आधुनिक समीक्षा पकड़े। जो आज शाश्वत दिखायी देता है, वह हमेशा एक जड़ से जा कर मिला देता है। जिन मूल्यों को मैं आज आधुनिक रूप में देखता हूँ, वे अगर उसी रूप में न दिखायी दें, तो भी कवि अपने कवि-कर्म से परास्त नहीं हो पाता। "हर अभिव्यक्ति जली हुई लकड़ी है, न कोयला, न राख।"

इसके बाद श्री बालकृष्ण राव ने कहा, "साहित्येतर बोध या चेतना आधुनिकता के नाम पर इस तरह से वातावरण पर छा गयी है कि वह समीक्षक के सामने सर्वदा अलिखित रूप से रहती है। समीक्षक आधुनिकता से आक्रांत या आविष्ट हो जाता है। इस मनःस्थिति के कारण समीक्षा-क्षेत्र में निर्मित 'जार्गन' का ही वह प्रयोग करता है। यह 'जार्गन' पारदर्शी है, जो न कहने वालों की समझ में आता है, न सुनने वाले के। समीक्षा की कोई स्वतंत्र परंपरा नहीं होनी चाहिए। जैसे प्रत्येक सर्जनात्मक प्रकृति अपनी प्रक्रिया निभाती है, उसी प्रकार साहित्यिक रचना के साथ उसकी आलोचना का समाप्त हो जाना काफ़ी अंशों में ठीक है। समीक्षा सर्वदा आस्वादनपरक होती है, किंतु पूर्व स्वाद को हम भूल नहीं पाते, इसलिए परंपरा बनती जाती है। बुद्धि के माध्यम से जितना ज्ञान-प्रकाश पाया जाता है, उनमें से किसी का भी प्रयोग आलोचना में संगत है। उनमें से किसी एक का आतंक या उपेक्षा करना भी ग़लत है। अतः अपनी संपूर्ण उपलब्धियों के प्रति सजग रह कर पुराने समीक्षा-मानदंडों को याद करते हुए, उनके प्रकाश में आज आलोचना-मान आवश्यक हो गया है।"

डॉ० नामवर सिंह ने कहा, "आलोचना शास्त्र की आवश्यकता मैं नहीं समझता, किंतु आलोचक और आलोचना आवश्यक हैं, क्योंकि काव्य कवि और सहृदय के संबंधों पर निर्भर है। आलोचक शास्त्र का नहीं, बल्कि अनुशासन का कार्य करता है। आलोचक की शास्त्रीयता यही है कि वह काव्य में भावुकता के कारण अव्यवस्थित बातों का नियंत्रण करता है। आधुनिक आलोचना में कुछ 'जार्गन' के शब्द बन गये हैं। 'जार्गन' में मूल समीक्षा छिप जाती है। आलोचना एक प्रकार से पुनर्रचना है। उसकी सार्थकता इसी में है कि वह मूल रचना के कितनी निकट है। रचना मूलतः आलोचनाधर्मी है। प्रत्येक रचना एक मूल्यांकन है। आलोचना भी मूल्यांकनधर्मी होगी। एक मूल्यांकन में सभी पिछली परंपरा का भी मूल्यांकन होता है, नहीं तो आलोचना सामयिकता का शिकार हो जायगी।"

चौथी गोष्ठी आधुनिकता और हिंदी का आदि एवं मध्यकालीन साहित्य है विषय पर हुई। गोष्ठी का प्रारंभ हिंदी विभाग के प्राध्यापक डॉ० न० चि० जोगलेकर के निबंध से हुआ। उन्होंने कहा, प्रत्येक युग में जीवन-मूल्य बदलते रहते हैं और इसीलिए पुराना साहित्य नये युग में भिन्न लगता है। साहित्य लोक-जीवन से संबंधित होता है। अतः उसे लोक-चेतना से भिन्न नहीं मानना चाहिए। आधुनिक भाव-बोध विगत साहित्य में भी हो सकता है और प्राचीन साहित्य का अध्ययन आधुनिकता के संदर्भ में होना चाहिए।" इसके बाद श्री म० गो० कानडे ने अपना निबंध पढ़ा। उन्होंने कहा, "विगत साहित्य की परख आधुनिक मानदंडों से भी हो

सकती है। विगत साहित्य का कलात्मक मूल्यांकन आज भी किया जा सकता है। आधुनिकता, विगत साहित्य के रसास्वादन में कोई बाधा नहीं पहुँचाती।"

डॉ० नामवर सिंह ने विषय को अधिक व्यवस्थित बनाते हुए कहा, "आधुनिकता मध्ययुग से जुड़ी हुई है। क्योंकि यह ठीक उसकी बाद की स्थिति है। पश्चिम और भारत के मध्ययुग की अवधारणा में बड़ा अंतर हैं। भारतीय मध्य-साहित्य में मध्ययुगीनता नहीं है, ज्ञानबद्धता भी मध्ययुगीनता नहीं है। क्योंकि पश्चिम की मध्ययुगीनता 'रेनासाँ' से प्रारंभ होती है। भारतीय मध्ययुग की एक विशेषता यह है कि समस्त काल सामाजिक संघर्षों से व्याप्त है और यह संघर्ष कबीर तथा अन्य संतों की रचनाओं में मिलता है। कबीर की चेतना और समवेदना आधुनिकता से जुड़ी हुई है, क्योंकि कबीर ने 'अनभय साँच', पारख पद' और 'सूच्छम वेद' की बात कही है। उन्होंने मानव-गरिमा की प्रतिष्ठा अपने अनुभव पर प्रस्थापित की। जाति-पाँति से रहित विशुद्ध मानव को उन्होंने महत्व दिया। नैतिकता की दृष्टि से रीतिकाल को तुच्छ कहा गया है, किंतु हिंदी में पहली बार कविता को कविता के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय रीतिकालीन कवियों को है। मध्य काल में मध्यकाल के साहित्य को एक कर के देखा जाय तो आधुनिकता अधिक स्पष्ट होती है। आधुनिकता एक पीड़ामूलक चेतना है। और इसी दृष्टि से समस्त साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

डॉ० माचवे ने कहा, "साहित्य को समग्र दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति आधुनिक है। संत-साहित्य की धारा में एक निरंतरता है, जिसने अपने अंदर बहुत कुछ समेट लिया है। सामाजिक बंधन का इन संतों ने निषेध किया और शास्त्रीय भाषा को त्याग कर सधुक्कड़ी भाषा का निर्माण किया। इन संतों ने मृत्यु-बोध का अनुभव बार-बार किया, जो आधुनिकता का एक लक्षण है। स्थापित व्यवस्था के विरोध में इन संतों ने बहुत कुछ कहा है। रीतिकाल में कहीं-कहीं इतनी जीवंतता है कि वह आधुनिकता के निकट मालूम होती है।"

अंत में डॉ० नामवर सिंह ने गोष्ठी का समापन किया।

पाँचवी गोष्ठी 'आधुनिक संदर्भ में हिंदीतर क्षेत्रों में शोध की दिशा' पर थी। गोष्ठी का प्रवर्तन डॉ० प्र० रा० भूपटकर ने अपने निबंध-वाचन से किया। उन्होंने शोध को क्षेत्रीय और ग्रंथालयीन की कोटि में रखते हुए कहा, 'क्षेत्रीय शोध के अंतर्गत महाराष्ट्र में बिखरी हुई, हिंदी रचनाओं का संकलन, संपादन और भाषावैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। दक्खिनी हिंदी तथा महानुभाव पंथ की अनेक रचनाएँ इधर-उधर पड़ी हैं, जिनका व्यवस्थित अध्ययन करना आवश्यक है। ग्रंथालयीन शोध की प्रमुख दिशा है तुलनात्मक अध्ययन की। हिंदीतर प्रदेश के लिए शोध की यह अत्यंत उपयुक्त दिशा है। तुलना-अध्ययन, साहित्य और भाषा दोनों क्षेत्रों में हो सकता है। दो समान लेखकों, दो कालों या दो प्रवृत्तियों की तुलना अधिक उपयोगी होती है। तुलनात्मक अध्ययन से भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य को समझने का अवसर प्राप्त होता है, जिसके कारण देश की एकता अधिक दृढ़ हो सकती है।"

इसके बाद डॉ० नामवर सिंह ने शोध संबंधी कुछ मौलिक बातों को स्पष्ट करते हुए कहा, "प्रायः शोध-निर्देशक पूर्वग्रहयुक्त होते हैं, जिसके कारण शोध-छात्र को अपना स्वतंत्र विचार या मत प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता। शोध के स्तर को उठाने के लिए यह आवश्यक है कि शोध उपाधि के लिए न किये जायँ। शोध स्वतंत्र रूप से किये जायँ और बहुत उपयोगी शोध होने पर उपाधि दी जाय। हिंदीतर क्षेत्रों में तुलनात्मक शोध इसलिए बहुत उपयोगी है कि भारत की अन्य भाषाओं और साहित्य को जानने का अवसर मिलेगा। डॉ० माचवे ने अपना वक्तव्य कुछ शिकायतभरे लहजे से शुरू किया। उन्होंने कहा, 'यह दुर्भाग्य की बात है कि तुलनात्मक अध्ययन करने वाले की उपेक्षा की जाती है। यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन एक दूसरे के साहित्य को समझने के लिए अधिक उपयोगी होता है। शोध का स्तर जो नीचे गिर रहा है, उस पर विश्वविद्यालय की ओर से ही अंकुश होना चाहिए। शोध के लिए बहुत से अछूते क्षेत्र हैं, जिन पर कार्य करना आवश्यक है। लोक-साहित्य में अभी बहुत कम कार्य हुआ है।" गो० प० नेने ने शोध-कार्य के स्तर को ले कर चिंता व्यक्त की। उन्होंने कहा "संकलन जसे कार्य को शोध नहीं मानना चाहिए। महाराष्ट्र में दक्खिनी हिंदी और हिंदी साहित्य से संबंधित विषयों पर अधिक कार्य होना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनसे देश की एकात्मता दृढ़ होती है।" श्री बालकृष्ण राव ने कहा, 'शोध, विषय से ही नहीं परखना चाहिए, बल्कि उसकी गहराई, उसका स्तर नापना चाहिए। शोध के लिए संकलन-सम्पादन भी विषय हो सकते हैं। उपाधि के लिए शोध आवश्यक है, क्योंकि हमारी वर्तमान व्यवस्था में उपाधि आवश्यक है। शोध-कार्य में इधर कुछ विघटन अवश्य हुआ है, किंतु इसे सुधारा जा सकता है। हिंदी का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, अतः हिंदी के विभिन्न स्तर भी होंगे। अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी भाषा के स्तरों पर भी शोध होनी चाहिए।" श्री रघुवीर सहाय ने हिंदी तथा हिंदीतर क्षेत्रों के शोध में कोई अंतर नहीं माना। उन्होंने कहा, "शोध के क्षेत्र में भाषा-व्यवधान नहीं। आज युवा लेखकों में एक ही भाव सर्वत्र है। यदि भाषा के व्यवधान को न मान कर इस मूल भाव को पकड़ा जाय तो अधिक अच्छा शोध होगा। शोध को भाषाओं में न बाँट कर उसे एक प्रवृत्ति के रूप में देखना चाहिए।"

अंत में डॉ० आ० प्र० दीक्षित ने समापन करते हुए अतिथि विद्वानों और श्रोताओं को धन्यवाद दिया। पूरी संगोष्ठी का नियमन और संचालन इतनी व्यवस्था के साथ हुआ कि ज़रा भी कहीं शिकायत का मौक़ा नहीं मिला। इसका पूरा श्रेय हिंदी विभाग के अध्यक्ष डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित को है।

—द्वारा डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित,
अध्यक्ष हिंदी विभाग,
पूना विश्वविद्यालय, पूना।

समीक्षाएँ

प्राचीन भारतीय आर्य राजवंश

सुमन शर्मा की पुस्तक। गंगहरा प्रकाशन, पटना–३। सन १९६६। मूल्य : ११.००।

वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में प्राचीन भारतीय राजवंशों के संबंध में विविध विवरण बिखरे पड़े हैं। इन विवरणों के आधार पर सर्वप्रथम पार्जिटर महोदय ने १९२२ में 'ऐंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' नामक एक विस्तृत ग्रंथ लिखा था। उन्होंने महाभारत युद्ध की तिथि ईस्वी पूर्व ९५० निर्धारित की थी। पार्जिटर ने अपने ग्रंथ में महाभारत-युद्ध के पहले के राजवंशों का क्रमबद्ध लेखा देने का प्रयास किया था। उनके बाद हेमचंद्र राय चौधरी, सीतानाथ प्रधान, काशीप्रसाद जायसवाल, जयचंद्र विद्यालंकार, ए० डी० पुसलकर आदि विद्वानों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।

इन विद्वानों के अध्ययनों के फलस्वरूप ईस्वी पूर्व सातवीं शती के पहले के भारतीय राजनीतिक इतिहास पर पर्याप्त नया प्रकाश पड़ा है। हमारे इतिहास का प्रारंभ गौतम बुद्ध के समय के बहुत पहले स्वीकार किया जाने लगा है। यह मान्यता अब दृढ़ हो चली है कि प्राचीन भारतीय अनुश्रुति विश्वसनीय है और उसके आधार पर अनेक शताब्दियों के इतिहास की कड़ियाँ जोड़ी जा सकती हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ श्री सुमन शर्मा के अनेक वर्षों के अनुसंधान का फल है। ग्रंथ में तेरह खंड हैं, जिनमें विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। भारत का नामकरण, आर्यावर्त का विस्तार, आर्यों का मूल स्थान, ईरान के साथ भारत का संबंध आदि बातों की समीक्षा करने के पश्चात कालक्रमानुसार आर्य राजवंशों का निर्धारण ग्रंथ में किया गया है। लेखक ने प्राचीन साहित्य का सम्यक आलोड़न कर अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है। ग्रंथ में विभिन्न राजवंशों की उपयोगी तालिकाएँ दी गयी हैं। अंतिम तेरहवें खंड में अनेक परिशिष्ट हैं, जिनमें ऋग्वेद के मंत्र-द्रष्टाओं की सूची तथा कलि-राज-वंशावली विशेष उपयोगी हैं।

इस ग्रंथ में महाभारत-संग्राम का समय ईस्वी पूर्व ११५० माना गया है। इसके लिए लेखक ने अनेक प्रमाण दिये हैं। विभिन्न राज-वंशों के समय-निर्धारण में लेखक ने उपलब्ध साहित्यिक प्रमाणों का हवाला दिया है। लेखक द्वारा अपने मतों की स्थापना में दुराग्रह का आश्रय नहीं लिया गया, यह प्रशंसनीय है।

इस प्रकार के ग्रंथ में अनेक विषयों पर मत-वैभिन्नय की गुंजायश हो सकती है। पुरा-तत्वीय अनुसंधानों के आधार पर महाभारत-युद्ध-काल तथा कतिपय प्राचीन राजवंशों के समयों में हेर-फेर संभव है। विद्वानों का एक वर्ग अब भी महाभारत-युद्ध का समय पर्याप्त ठोस प्रमाणों के आधार पर ईस्वी पूर्व १४वीं शती मानता है।

देश के 'भारत' नामकरण के संबंध में

लेखक का यह मत विचारणीय है कि स्वायंभुव मनु की छठीं पीढ़ी में हुए प्रजापति भरत के नाम पर देश का नाम 'भरतखंड' या 'भारतवर्ष' पड़ा। ऋग्वेद तथा परवर्ती साहित्य में एक प्रमुख जन के रूप में 'भरतजन' का नाम आता है। देश के नामकरण पर विचार करते समय इस जन का उल्लेख आवश्यक था।

इसी प्रकार काश्यप सागर, असुर, दैत्य-दानव, प्राचीन नागराज्य आदि अनेक विषय हैं, जिन पर पुर्नविचार किया जा सकता है। साहित्यिक सामग्री के साथ नये पुरातत्वीय अनुसंधानों का भी अध्ययन आवश्यक है।

हिंदी में इस ग्रंथ का प्रणयन कर विद्वान लेखक ने सराहनीय कार्य किया है। आशा है कि ग्रंथ में उठाये गये अनेक प्रश्नों पर विद्वानों का ध्यान जायगा। प्राचीन राजवंशों की जानकारी के लिए प्रस्तुत कृति एक संदर्भ-ग्रंथ का कार्य करेगी।

—कृष्णदत्त वाजपेयी,
अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
तथा पुरातत्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर।

प्यासा पानी

विमला रैना का उपन्यास। आत्माराम एंड संस, दिल्ली। सन १९६५। मूल्य : ३.००।

'प्यासा पानी' सामाजिक संघर्ष की भित्ति पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। प्रकाशक के शब्दों में श्रीमती विमला रैना द्वारा लिखित यह पहला हिंदी का उपन्यास है। इससे पूर्व उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य में अपनी साहित्यिक प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इस उपन्यास की रचना की प्रेरणा भी उन्हें अपने अंग्रेज़ी उपन्यास 'अंबपाली' से प्राप्त हुई है।

'प्यासा पानी' की कथावस्तु सीधी-सादी और साधारण हैं, किंतु उसके कथनोपकथन इतने पुष्ट और हृदयग्राही हैं कि लेखिका की लेखनी में अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने की निश्चयात्मक दृढ़ता स्पष्ट झलकती है। दृढ़ संकल्प की भावना विश्वास और निडरता को जन्म देती है और इसी संकल्प के सहारे जीवन के संपूर्ण क्षेत्र में विजय प्राप्त होती है। 'प्यासा पानी' के पात्रों का कुछ इसी प्रकार का समन्वय है। मालती भारतीय संस्कृति के वातावरण में पली-पोसी एक सहज नारी है, किंतु अचानक ही उसे आधुनिक सभ्यता के ऊँचे शिखर पर चढ़ना पड़ा है। अपने संस्कारों के प्रति उसे दृढ़ आस्था है, किंतु विकृत परिस्थितियों को भी उसने अपनी साधना से शुद्ध कर लिया है और उसे समदृष्टि का स्थान प्रदान कर दिया है। प्रभाकर जो उसका पति है, विशुद्ध रूप से पश्चिमी सभ्यता के अलंकारों में जीना चाहता है, उसकी सर्वाधिक प्रच्छन्न भावना शारीरिक सुख प्राप्त करने के लिए है, किंतु मालती का धैर्य जहाँ सहज रूप से संस्कारहीन पीड़ाओं पर गहरा प्रकाश डालता है, वहाँ मानसिक अंतर्द्वंद्व की सहज गतिशीलता को अवरुद्ध कर, कुंठाजनित पृष्ठभूमि को दृढ़ता प्रदान करने की चेष्टा करता है। इस अवरुद्ध मार्ग को खोलता है प्रभाकर का अभिन्न मित्र आनंद, जो मालती की सहज कल्पनाओं का भी एक चितेरा रहा है। आनंद का मित्र-धर्म प्रचलित

रीतियों और रूढ़ियों को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है, इसीलिए वह टूटती हुई मालती को दृढ़ आस्था का आश्वासन देता है और उसे ही क्या, प्रभाकर को भी चमचमाती हुई रंगीन दुनिया के सपने से दूर निकाल कर उसके व्यक्तित्व के अभ्यंतर में अधोमुखी प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी शक्तियाँ प्रदान करता है।

एक बात मुझे थोड़ी सी खटकी है इस उपन्यास में। मालती के चरित्र को, कुछ ऐसा संस्कारपूर्ण बना दिया गया है कि उसे हर भिन्न परिस्थिति में, एक सहयोगी की भाँति देखा गया है। उसके व्यक्तित्व में कहीं भी क्रांति के दर्शन नहीं होते और इसी कारण जब वह प्रभाकर से टूटने लगती है, तो उसे मिल जाता है आनंद, जिसमें वह सारी व्यथा उड़ेल देती है, क्रांति द्वारा नहीं, बल्कि आँसुओं द्वारा। लगता है, पुरुष-विहीन हो कर नारी को समझा ही नहीं जा सकता।

मालती, प्रभाकर और आनंद के चरित्र-चित्रण सफल और यथार्थ हैं और जीवन के व्यावहारिक रूप से अच्छी तरह परिचित और अनुप्राणित हैं। यह उपन्यास जीवन की सामाजिक समस्याओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण करने का प्रयास है।

—निर्गुण अवस्थी,
१११ ए/१२९, अशोकनगर,
कानपुर।

एक उजली नज़र की सुई

हरीश भादानी का कविता-संग्रह। वातायन प्रकाशन, बीकानेर। सन १९६६। मूल्य : ५.००।

प्रस्तुत काव्य-संग्रह में दो खंड हैं, प्रथम खंड में सन '६० के बाद की सृष्टि है और द्वितीय में सन '६० के पूर्व की, जिन्हें कवि ने बहुत कुछ अस्वीकृतियों के बाद जोड़ा है। '६० को कविविशेष महत्वपूर्ण मानता है, क्योंकि इससे पूर्व, जो कवि-मानस वैयक्तिक भावोन्मेष को वाणी देने में व्यस्त रहा, वह अब सड़क, फ़ुटपाथ, चिमनियों से छन कर आती, भारी और हल्की मीठी आवाज़ों में जीने को अभ्यस्त हो रहा है। वह अपने यथार्थ से रागात्मक संवेदन का प्रयत्न कर रहा है।

वैयक्तिक उन्मेष 'उजली नज़र की सुई' के द्वितीय खंड में है। अटूट प्यास, जो दो बूंद का एहसान नहीं लेना चाहती (क्योंकि उससे वह बुझेगी नहीं) और दूर से गुज़र जाने वाले सुखों की शिकायत के गीत हैं। सुख दूर से चले जाते हैं, पर पीड़ा है कि उमर भर साथ चलने को उतारू है। और 'मन के कुम्हार' की सभी मटकियाँ अछूती रह जाती हैं। इन गीतों में प्रतीक्षातुरता की झलक भी स्पष्ट है। 'मन के कुम्हार' ने जो मटकियाँ बनायी हैं, वे साधारण नहीं हैं। 'साधों की माटी' को 'साँस के चाक' पर चढ़ा कर मटकी बनायी गयी है, 'ववाँरा रूप' उभारा गया है और सपनों के सतरंग आँके गये हैं, उसने हाट सजायी, पर——

> **हाट सजायी आहट सुनने**
> **कंगनियाँ झंकार की**
> **रहीं अछूती सभी मटकियाँ**
> **मन के कुशल कुम्हार की**

'कुशल कुम्हार' की व्यर्थता दिखला कर भाव को घनीभूत किया गया है। बहुत कोमल

अनुभूतियों का संभार इन कविताओं में है। प्रकृति के उपादानों को भी कवि ने अपनी अनुभूतियों के रंग में देखा है। वह जानता है कि :

केवल दो पल की
उम्र हुआ करती पाहुन मनुहारों की

और प्रकृति में भी

बोलो, कब सावन की रिमझिम
सहमी धूपाई घाटी में

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इन गीतों में सीमाहीन प्यास की अभिव्यक्ति है। निराशा की, एकाकीपन की पीड़ा है, मीत (कंगनियाँ झनकार वाले) की प्रतीक्षा है। वैसे सभी गीत बहुत अच्छे लगे, पर कुछ हैं कि मुझे बार-बार याद आते हैं, इनमें अनुभूति तो है ही, शब्द का शिल्प भी उदात्त है। एक उदाहरण है :

किंतु सूनी वीण पर भी
गीत स्वर गा कर चले--
तुम जलन देते रहे हो
और हो तो और दो

(पृ० ६५)

और

अभी दर्द की आँख लगी है
धीरे-धीरे बहो हवाओ

(पृष्ठ ७५)

प्रथम खंड में कवि व्यक्तिगत व्यामोहों से उबरा है। वह भीतर से बाहर की ओर उन्मुख हुआ है। जब वह बाहर देखता है तो पाता है कि आदमी आदमी के बीच दीवार है। एक आदमी दूसरे के लिए अजनबी है। वह आदमी आदमी के बीच की इस दीवार को तोड़ना चाहता है। मन खोल कर आदमी से मिलना चाहता है, पर क्या, आज की मुखौटों वाली ज़िंदगी में वह संभव है? कवि-मन का दुख इन कविताओं में भी व्यक्त हुआ है, पर अब उसकी दृष्टि यथार्थ की ओर है और इसके प्रति निराशा का भाव भी है :

क्या बोलें दुखते मन से?
सुबह-सुबह
आ कर चुभती हैं
पिनें धूप की--
क्या बोलें दुखते मन से

क्योंकि

सौ-सौ मुंह
उगला करती हैं
धुआँ चिमनियाँ
क्या देखें घर-आँगन से

(पृष्ठ १६)

व्यामोहों से निकलने की बात कवि ने कही अवश्य है, पर उसने पाया नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने यथार्थ का साक्षात्कार प्रारंभ किया है। पर उसकी भावप्रवणता उसी उन्मेष से मुक्त है, जो सन '६० के पूर्व के गीतों में थी। क्योंकि कवि अभी अपने आपको, यथार्थ से 'एडजेस्ट' नहीं कर पाया है। इसलिए रोशनी रोकते ऊँचे मकान वाले, हवा रोकती

गलियों वाले शहर उसे अजनबी लगते हैं (पृष्ठ १९) । अब उसे यह प्रतीति अवश्य हो रही है कि आज के परिवेश में :

ऐसे साँस जिया करती है !
गगन चढ़े
कल्मषे मुखौटों को सुलगा कर
जैसे सुबह दिखा करती है !

(पृष्ठ २१)

होता है। एकाकीपन की अनुभूति भी तीव्र है इन कविताओं में। संशय से आक्रांत, भ्रम से पूरित मन की अभिव्यक्ति है, पर प्रसन्नता की बात यह है कि कवि समझ गया है कि ऐसा है, कठिनाई तब होती है जब यह सब अनजाना होता है। संशय, भ्रम आदि को कवि जान गया है, पर निकलने का रास्ता नहीं दीखता उसे—पर यह अनुभूति ज़रूर होती है कि : **कब तक और जिया जायेगा ?** (पृष्ठ २३)

इन स्थितियों से पलायन कर कवि-मन पुनः अपनी पूर्व स्थिति में पहुँच जाना चाहता है और फिर 'प्यास' के गीत गाने लगता है :

बोलो, कैसे प्यास बुझायें
सागर जैसा एकाकीपन
नीले जल-सा
खारा तन-मन
रीती ठरी हवाओं जैसे
कब तक
अपनी साँस दुखायें ?

(पृष्ठ २५)

पर उन आयामों में ठहर नहीं पाता, फिर यथार्थ की ओर आता है, 'संकल्पों के नेज़ों' को और तराशने की बात कहता है (पृष्ठ २७) आज के युग की संशय तथा भ्रमजनित शीतलता और जड़ता को पुनः गरमाना चाहता है :

ठंडा पानी भरे नसों में
हरकत रोके,
पसरी हुई हथेली पर
दो-चार नहीं तो
सिर्फ़ एक अंगारा रख दो।

(पृष्ठ २९)

अतएव 'उजली नज़र की सुई' में वैयक्तिक भावोन्मेष, उनसे मुक्त हो कर यथार्थ से संवेदन, पर यथार्थ की भयावह स्थिति से आक्रांत हो कर पलायन, पुनः यथार्थाभिमुखता, संकल्प दृढ़ रखने की आकांक्षा आदि व्यक्त हुए हैं।

पर इन सभी कविताओं में गीत का वैशिष्ट्य है। अतः गीत का शिल्प भी इनमें स्वतः आ गया है। गीत के शिल्प में ढलने के कारण यथार्थ भी कोमल रूप में ही व्यक्त हुआ है। उतना कटु नहीं लगता, जितना वह है।

शिल्पगत अन्य उपादानों की दृष्टि से 'उजली नज़र की सुई' समृद्ध है।

सुलगते पिंड

हरीश भादानी का कविता-संग्रह। वातायन प्रकाशन, बीकानेर। सन १९६६। मूल्य ६.००।

'सुलगते पिंड' हरीश भादानी का नवीनतम

काव्य-संग्रह है। इसमें कवि की उस सुलगती अनुभूति के स्वर हैं, जो अपने में इतनी 'दम-खम' युक्त है कि इस गँदली धरती को रक्त से धो सके, धरती में मौजूद खुरदरी कूबड़ को ढहा सके। स्वाभाविक है कि ऐसा प्रतिक्रियाशील व्यक्तित्व, साधारण न हो। इसीलिए कवि ने कहा है कि ऐसे दम-खम वाले ये व्यक्तित्व भ्रूण में ही ज़हर की झिल्ली से लिपटे थे। और भ्रूण में ही ज़हरीली झिल्ली से लिपटे ये व्यक्तित्व सुलगते पिंड हैं :

हमारे भ्रूण पर
जहर की झिल्लियाँ चढ़ी थीं
जन्मे हम
सुलगते पिंड जैसे
(पृष्ठ १०४)

और

हम अनागत फ़सलों के पहलुए
जो खुरदुरी
कूबड़ ढहाने का
दम-ख़म लिये पैदा हुए हैं।
(पृष्ठ १०५)

स्वाभाविक है कि ऐसा सुलगता पिंड जैसा व्यक्तित्व अपाहिज ज़िंदगी को क्यों पसंद करेगा ? अपाहिज ज़िंदगी की उपलब्धि भी क्या है ? ज़िंदगी जो ख़ुदग़र्ज़ियों की खपाचियों पर टिके हुए सपने लिये है, जिसमें 'सूजन चढ़े संकल्प' और पत्थरों के आगे झुकने की आस्था है, अपाहिज ही तो है। ऐसी ज़िंदगी आगामी कल की संभावनाओं को क्या समझेगी ? आदमी आज सिर्फ़ संज्ञा में ही आदमी रह गया है, वह झूठे आदर्शों को ढोता है, नग्नताएँ ढाँपता है और फलस्वरूप कुंठाएँ बटोरता है। अँधेरे पर आसक्त है, वह प्रकाश से भयभीत है। ऐसे आदमी से बसी यह धरती मैली तो होगी ही और कवि चाहता है कि यदि धरती को फिर से हरी-भरी देखना है, यदि हसरतों को पनपते देखना है तो :

और इन हसरतों की ही ख़ातिर
आ! यह धरती
आग से धोयें हमारे दोस्त।

'सुलगते पिंड' की कविताओं का प्रमुख स्वर यही है जो अपने में आस्था और शक्ति को निहित किये है। यह केवल प्राचीन आस्थाओं, अपाहिज आस्थाओं को अस्वीकार ही नहीं करता, वरन उन्हें जला देना चाहता है, भले ही कोई उसका साथ न दे, वह एकाकी ही ऐसा करेगा और जहाँ वह पुरानी अपाहिज आस्थाओं को जलायगा, वहाँ एक पट्ट भी लगा देगा कि यहाँ 'पुरानी आस्थाएँ जली हैं' पृष्ठ ९७ और १०० पर छपी कविताओं में भी इसी भूख की तीव्रता वर्णित है।

इन भावनाओं को व्यक्त करने वाली कविताओं के अतिरिक्त 'सुलगते पिंड' में कुछ बहुत अच्छे गीत की विशेषताओं से युक्त कविताएँ भी हैं, जिनमें अनुभूति पक्ष तो सुंदर है ही, नवीन शिल्प भी दिखलायी पड़ता है। एक उदाहरण लें :

रात भर
नींद नहीं आयी
तन की सूजन
मन पर के कुछ घाव खरोंचे

सिरहाने बैठी खामोशी
गरम-गरम फोहों से धोती रही
रात भर

(पृष्ठ १९)

'मन के घाव' और उन्हें गरम फोहों से धोने वाली खामोशी बहुत सशक्त व्यंजना है। सूक्ष्म दर्द को बिंबीकृत करने का सफल उदाहरण है यह। भाव-संपदा से पुष्ट एक और गीत है :

पोर-पोर में चुभ जाती है
इतना दर्द दिये जाती है
आसमान गँदला जाता है
जिसको धोते-धोते
मेरी साँस-साँस
थकने लगती है।

(पृष्ठ ३०)

इस प्रकार के अनेक गीत 'सुलगते पिंड' में हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों का यही स्वर आगे विस्तृत होता हुआ सुलगता पिंड बना है।

प्रस्तुत काव्य-संग्रह में शिल्प भी प्रौढ़ है। भाषा अनुभूति के अनुकूल है और कवि की साधना को प्रकट करती है। कुछ प्रयोग जैसे 'दरारित' (पृष्ठ ६४), 'चोटिल' (पृष्ठ ६४), 'प्रारूपती', 'विस्तारती' आदि उल्लेख्य हैं। ये भावानुकूल हैं और भावानुकूल परिवर्तन से शब्द का सामर्थ्य बढ़ता है। कवि, यदि इस प्रकार शब्द के रूप में परिवर्तन करे तो मैं उसे उचित मानता हूँ। बिंब और प्रतीक भी इस काव्य में सुंदर हैं। प्रतीक की दृष्टि से :

बूढ़े सूरज की सहचरी
नवेली संध्या ने जाये
कुछ अवैध सपने

कविता सुंदर है।

बिंब के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक यह है :

रात का अँधेरा--
अजगर-सा अपाहिज
जिस पर कोढ़ से फूटे हुए तारे
लूनी हवाओं की हिलक से
खड़खड़ाती पत्तियों जैसी
दुखती-उखड़ती साँस

(पृष्ठ ४१)

'सुलगते पिंड' की कविताओं का कवि अपनी अनुभूतियों को तटस्थता से व्यक्त कर पाया है। प्रेषणीयता उनमें है। अतएव कथ्य और शिल्प की दृष्टि से 'सुलगते पिंड' उल्लेखनीय है। इन कविताओं को किसी वर्ग में रखने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती। ये पाठकों को स्पर्श करेंगी, खरोंचेंगी, मुझे विश्वास है।

अंत में कहूँ, जैसा कथ्य है, वैसा ही संग्रह का रूप भी।

---कृष्णकुमार शर्मा,
हिंदी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर।

ये सपने ये प्रेत

रणजीत का कविता-संग्रह। नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर, राजस्थान। सन १९६४। मूल्य ४.००।

रणजीत के काव्य-संग्रह 'ये सपने ये प्रेत' का जब नाम सुना था तो संग्रह के प्रति मन में एक पूर्वग्रह सा घर कर गया था। इधर हिंदी कविता में प्रेत और बौनों (लघु मानवों आदि की) बड़ी भरमार हुई है। इसीलिए मेरा ख़याल था कि रणजीत की कविता में भी कोई न कोई प्रेत छिपा बैठा होगा। प्रेतों का संग मुझे कभी भी अच्छा नहीं लगता, जिन्हें लगता है, ऐसे लोगों का हिंदी में कोई टोटा नहीं है। इसलिए मैं जान-बूझ कर इस संग्रह से कतराता रहा, बावजूद इसके कि मुझे अधुनातन हिंदी कविता के संबंध में विस्तार से लिखना था और इसके लिए प्रमुख-अप्रमुख सभी नये कवियों के संकलन देखने थे। लेकिन जब संकलन समीक्षार्थ आ गया तो सबसे पहले 'ये सपने ये प्रेत' शीर्षक कविता ही पढ़ गया, जिसके आधार पर संग्रह का नामकरण हुआ है। इस एक कविता के पारायण ने मेरे पूर्वग्रह को समाप्त कर दिया और मैं संकलन बहुत चाव से पढ़ गया। और अब तो मेरा ख़याल है कि यह मेरे प्रिय संग्रहों में से एक है।

रणजीत की कविता का सबसे प्रमुख गुण उसकी सफ़ाई है। यह दृष्टिकोण कविता के शैली-शिल्प और भाषा तक में देखी जा सकती है। ऐसी साफ़-सुथरी, सीधे दिल पर असर करने वाली कविताएँ आजकल बहुत कम लिखी जा रही हैं। साफ़ दो टूक बातें कहने वालों का एक अपना अंदाज़ होता है। यह अंदाज़ रणजीत की कविता में हर जगह है। लेकिन साफ़ बातें वही कवि कह सकता है, जिसका दिल और दिमाग़ साफ़ हो। दिल के साफ़ होने के मानी यह कि उसे किसी से व्यर्थ डर-भय न हो, वह कवि या महाकवि न होना चाहता हो, उसका कोई अपना संकुचित स्वार्थ न हो, उसके मन में समझौते आदि की ललक न हो, वह किसी के सामने झुकना न चाहता हो और न मसीहा होना चाहता हो। ऐसा मामूली लेकिन सच्चा आदमी ही साफ़गोई का निर्वाह कर सकता है। लेकिन केवल दिल का साफ़ होना ही काफ़ी नहीं है। यह आदमी को ग़लत रास्ते पर भी ले जा सकता है, इसलिए उसका दिमाग़ भी साफ़ होना चाहिए। दिमाग़ साफ़ होने के माने हैं कि वह इतिहास की वास्तविकताओं से, यथार्थ के दबावों और उसकी शक्तियों से, मानव के भवितव्य और उसकी नियति स, उस दिशा में बढ़ते हुए उसके अनथके चरणों की प्रगति और उसको बाँधने वाली श्रृंखलाओं और उसकी जकड़नों और उसके पीछे निहित शक्तियों और षड्यंत्रों से भली भाँति परिचित हो अर्थात वह क्षणवादी न हो, प्रयोगवादी न हो, कवितावादी न हो।

मेरा अपना मत है कि श्रेष्ठ कविता वही है, जो अधुनातन शिल्प में समसामयिक सामाजिक यथार्थ को ध्यान में रख कर लिखी जाती है। बिना सामाजिक यथार्थ को छुए कोई कविता सिर तान कर खड़ी नहीं हो सकती। ऐसी कविता मेरुदंडविहीन कविता कही जायगी। ऐसी कविता में यदि एक लिजलिजापन और भोलापन दिखायी दे तो यह स्वाभाविक है। रणजीत की कविता इन दोषों से मुक्त है। उसकी कविता पूरे विश्वास के साथ, शंका और संदेह से मुक्त हो कर जीवन और यथार्थ की कठोर धरती पर तन कर खड़ी होती है और लोगों को खुले कंठ से संबोधित करती है। इसलिए उसकी कविता में रिरियाहट, छटपटाहट, बेबसी, बेचैनी, त्रास और कुंठा आदि नहीं हैं।

संग्रह में दस पृष्ठों की एक संक्षिप्त पर

उपयोगी भूमिका है, जिसे कवि ने अपना दृष्टिकोण कह कर व्यक्त किया है। यह एक ऐसा वक्तव्य है, जो कवि सुलझे हुए दृष्टिकोण का परिचायक है। वक्तव्य की 'सार्थकता इस बात में है कि यह कविताओं के स्वरों के मेल में है। आजकल भूमिकाएँ प्रायः ऐसी लिखी जाती हैं कि उनका कृतित्व से कोई ताल-मेल नहीं बैठता। रचनाकार वक्तव्य में जो कुछ कहता है, कृतित्व में ठीक उसके विपरीत आचरण करता है। रणजीत के वक्तव्य को इस कोटि में नहीं रखा जा सकता। उसकी कविता आत्मा की जितनी ईमानदार आवाज़ है, वक्तव्य भी उतना ही है।

कविताएँ तीन खंडों में विभाजित हैं: 'जूझती प्रतिमाएँ', 'एक विराट पवित्रता' और 'यह बस्ती बटमारों की', 'जूझती प्रतिमाएँ' ये मुख्यतः ऐसी कविताएँ हैं, जो कवि के विश्वासों को वाणी देती हैं। ऐसी कविताओं को संग्रह में प्रथमता उपस्थित करना उचित ही है। 'एक विराट पवित्रता' में प्रेम संबंधी कविताएँ हैं। इस खंड की कविताओं को देख कर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि जड़ मुहावरों का प्रयोक्ता नहीं है। विषय के अनुसार रचना का शिल्प बदलता है, लेकिन जो अकुशल कवि होते हैं, वे एक ही शिल्प में नाना विषयों को समान भाव से गूँथ देते हैं। लेकिन यह विषय को उसका स्वरूप न दे कर दफ़नाना हुआ। विषय अपने व्यक्तित्व के अनुसार परिधान चाहता है। जहाँ विषय का विशिष्ट व्यक्तित्व न होगा, वहाँ उसे फटा-पुराना जो भी दिया जायगा, वह पहनने-ओढ़ने को विवश होगा। लेकिन जहाँ विषय का विशिष्ट व्यक्तित्व होगा, वहाँ उसके प्रतिकूल परिधान रचनाकार का असामर्थ्य प्रकट कर देंगे। इस दृष्टि से भी रणजीत असफल नहीं हैं। यद्यपि उनका शिल्प अपेक्षाकृत पुराना है, तथापि प्रेम और रूमान आदि के प्रसंग में वे नितांत अद्युनातन शिल्प का प्रयोग करते हैं। 'यह बस्ती बटमारों की' में मुख्यतः व्यंग्य कविताएँ हैं। वैसे व्यंग्य पूरे काव्य-संग्रह का मूल स्वर है, पर वह इस खंड में अधिक प्रखर है। इस खंड में कुछ पुरानी शैली की कविताएँ भी हैं, जैसे 'हालत हिंदुस्तान की'। इसकी रचना प्रदीप के 'आओ बच्चों तुम्हें दिखाएँ झाँकी हिंदुस्तान की' के आधार पर हुई है। 'मैं प्यार बेचती हूँ' भी एक ऐसी ही कविता है, जो भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीतफ़रोश' कविता पर आधारित है। ये कविताएँ इस बात के प्रमाण हैं कि कवि इतना क्षमतावान है कि समसामयिक कृतियों का इस प्रकार उपयोग कर सकता है, उसके कथन में अधिक प्रभाव और अर्थवत्ता आ जाय। दूसरे के छलकते पैमाने को अपने हाथ में लेना और फिर उसके अंदाज़ पर छलकने देना कम मुश्किल काम नहीं है। दूसरे के सुर में इस प्रकार सुर मिलाना उसी कलाकार के वश की बात है, जिसका सुरों पर अधिकार हो, 'एक बाल बच्चेदार आदमी की कविता' और 'यह बस्ती बटमारों की' का शिल्प अपेक्षाकृत पुराना है लेकिन पढ़ने पर लगता है कि ये इसी शिल्प में लिखी जा सकती थीं। इस प्रकार रणजीत का यह संग्रह समग्रतः एक ऐसा संग्रह है, जो समीक्षक से बलात प्रशंसा वसूल कर लेता है।

अकथ

महावीर दाधीच, ओमानंद सारस्वत और

कीर्तिनाथ कुर्तकोटि का सहयोगी कविता-संकलन। रूप सहकार, वल्लभ विद्यानगर, गुजरात। सन १९६६। मूल्य : ३.००।

'अकथ' तीन नये कवियों की उनचालीस कविताओं का प्रथम संकलन है। ये तीनों कवि पेशे से साहित्य के प्राध्यापक हैं। श्री दाधीच सरदार पटेल विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर हिंदी विभाग में प्राध्यापक हैं और पी० एच० डी० हैं। श्री ओमानंद सारस्वत भी पी० एच० डी० हैं और नलिनी और अरविंद आर्ट्स कॉलेज में हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष हैं। श्री कुर्तकोटि पटेल महाविद्यालय में अंग्रेजी विभाग के प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष हैं।

सुपठित साहित्यिक व्यक्ति जब कविता लिखता है, तो हम स्वभावतः उससे कुछ अधिक की उम्मीद रखते हैं। यदि वह नयी कविता लिखता है, तो हम मानते हैं कि वह नवीन आधुनिक भाव-बोध से संपन्न है और कविता की समसामयिक गतिविधि से परिचित है। इसलिए यदि हम उसकी कविता को समसामयिकता, आधुनिकता और नवीनता की कसौटी पर कसना चाहते हैं, तो यह स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ कविता को कविता के रूप में तो देखना ही है, चाहे वह नयी कविता हो या पुरानी। इन धारणाओं के साथ जब हम 'अकथ' का पारायण करते हैं, तो गहरी निराशा हाथ लगती हैं। हिंदी कविता के प्रसंग में ये कविताएँ बहुत बचकानी लगती हैं। नवीनता और आधुनिकता इनमें कहीं नहीं है, यदि है तो उनका बड़ा बाहरी और विकृत रूप। लगता है, कवि-त्रय ने प्राप्त साधनों और सुविधाओं के कारण संकलन तो प्रकाशित कर दिया है, पर कविता के संबंध में और वह भी आधुनिक और नयी कविता के संबंध में उनकी धारणाएँ स्पष्ट नहीं हैं। आजकल यों भी प्रकृत-कवियों के समानांतर फ़ैशन-कवियों और तथाकथित कवियों की एक लंबी क़तार है, जिसमें डॉक्टर, प्राध्यापक, अफ़सर, व्यवसायी, पत्रकार और संपादक आदि हैं। पिंगल शास्त्र छंदशास्त्र की बाध्यता न होने से नयी कविता लिखना आसान है, उस पर रचयिता आदि विद्वान हो, उच्च पदासीन हो, तो उसकी विद्वत्ता की धौंस के साथ लचर कविता भी आसानी से चल जायगी, ऐसा लोग सोचते हैं। इस ख्याल से आज नये-नये संकलन निकल रहे हैं, लेकिन इनके चलते समय, शक्ति और साधनों का जो अपव्यय होता है, वह सर्वविदित है। 'अकथ' में भी ऐसा ही हुआ है। संकलन में कविताएँ प्रायः नहीं हैं—घटिया कोटि की चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ भले ही हों। मुझे तो एक भी अच्छी कविता, पूरी की पूरी, नहीं मिली। प्रेमिका के शरीर को राजसूय यज्ञ के अवशिष्ट सा कहना, चाँद का बलात्कारित पागल किशोरी की तरह रो देना, जिसकी आँखों को मोनालिसा की आँखें कहना उसे नकार की सनसनाती बाढ़ कहना, प्रेमिका के गालों पर गीले काजल को रिसते देखना। कितनी फूहड़ है प्रेमिका। और उसकी सौगंध खाना एस एस डोंट गेट एक्साइटेड ओल्ड ब्वाय। व्हाट एबाउट ए गेम ऑफ़ चेस। चेस स्टिमुलेट्स योर मेंड जैसी पक्तियाँ लिखना, शटल, शार्प, एक्सलेंट, ओरिजिनल, अबोरिजिनल, ग्रेट इंटेलेक्चुअल, वंडरफुल करेज, ओह व्हाट नोट जैसे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करना, हड़काये कुत्ते-सा भड़ाभड़ सिर भिड़ाना, और जो कुछ भी हो, कविता नहीं है। ये सारे उदा-

हरण श्री दाधीच की कविताओं से दिये गये हैं। दूसरे कवियों में भी ऐसा ही विकृत सौंदर्य-बोध है, इसलिए साला खूसट जैसे शब्द और ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं :

तुम वैक्यूलेक्स की
गोलियों पे गोलियाँ
ले कर
कचरा साफ़ कर लेना पहले
फिर देखो, धरती कैसी उर्वर होगी
(ओमानंद सारस्वत).

ऐसे कवियों को यदि पेड़ों के उस पार से काले बादल टूटी झोपड़ी से नजरायें (नजर आये नहीं), दिन के दिनमान (पता नहीं रात के भी दिनमान होते हों) के दर्शन हों और स्याही-सा स्याह । स्याही-सा लाल, सफ़ेद, पीला और नीला भी होता हो) अँधेरा मिले, तो कोई आश्चर्य नहीं। इनके लेखे काला भौंरा मादकता से फूल पर मँडराता नहीं, चकराता है, इनकी नायिकाएँ सीख चुकी हैं, संभोग की क्रियाएँ, उपन्यास पढ़ती हैं और फ़िल्म देखती हैं। इन सबमें समसामयिक जीवन के चित्र कहाँ हैं ? ज़िंदगी के दुख-दर्द, हास, उल्लास और स्पंदन-धड़कन कहाँ हैं ? क्या यही आज की नयी ताज़ी हिंदी कविता है ? लगता है, तीनों के तीनों कवि एक खामखयाली दुनिया में रह रहे हैं और फ़ुरसत के क्षणों में ड्राइंग रूम में बैठ कर फ़ैशन की कविताएँ लिखते हैं। ऐसे कवि यदि अपने को कुत्ता मानें और अनेक सदियों का जूठन सूंघते हुए अपने को इस भू पर आया हुआ कहें तो यह स्वाभाविक है। लेकिन इतनी सारी बातें कहने के बाद भी यह कहना ज़रूरी होगा कि अंतिम दो कवियों में, विशेषकर ओमानंद सारस्वत में, कुछ छिटपुट संभावनाएँ भी हैं, जो इन पंक्तियों में स्पष्ट हुई है :

(१) आओ चोरबाजारी करें
क्योंकि अब सफ़ेदी का युग बीत गया।

(२) झगड़ कर मेरा मन
मेरे ही कमरे से बाहर
निकल गया सड़क पर

(३) घूसखोरी-सा अँधेरा
चुपचाप बिना आवाज़
रबर सोल के जूते पहने
आ रहा धीरे-धीरे।

(४) खिड़की से झांक रहे तारे
अनाथालय के बच्चे से
चाँद दिखाता रौब
लीडर हो जैसे।
(ओमानंद सारस्वत)

(५) पौ फटती है दरवाज़े पर
एक दस्तक—
कोई दूसरी जिंदगी मुझे
पुकारती है, खींचती है।
(कीर्तिनाथ कुर्तकोटि)

लेकिन पूरे संकलन में ऐसी साफ़-सुथरी सुंदर पंक्तियाँ इतनी कम हैं कि कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

—श्यामसुंदर घोष,
गोड्डा, संताल परगना
(बिहार)

माध्यम
के लेखकों से विनम्र निवेदन
है कि

- जहाँ तक संभव हो किसी भी रचना में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग न करें।
- हम रचनाओं की अस्वीकृति की सूचना नहीं देते।
- स्वीकृत रचनाओं की सूचना साधारणतया रचना-प्राप्ति के एक पखवारे के भीतर दे देते हैं।
- स्वीकृति-सूचना के बाद प्रकाशन के संबंध में रचनाकार कृपया पत्र-व्यवहार न करें, क्योंकि उनकी उदारता के कारण रचनाओं का बाहुल्य रहता है और न चाहते हुए भी उनके प्रकाशन में विलंब अनिवार्य है।
- रचनाओं की वापसी के लिए टिकट-लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य भेजें।

सम्पूर्ण पाँचों
खण्ड प्रकाशित
आकार
डिमाई चार पेजी

शब्द संख्या

पहला खण्ड – २१,९४८
दूसरा खण्ड – २१,१२७
तीसरा खण्ड – २३,६५३
चौथा खण्ड – २१,०८२
पाँचवाँ खण्ड – २५,३९६

पृष्ठ संख्या

पहला खण्ड – ६१८
दूसरा खण्ड – ५९९
तीसरा खण्ड – ६७०
चौथा खण्ड – ६०६
पाँचवाँ खण्ड – ६८४

•

प्रति खण्ड का मूल्य पचीस रुपये

केवल शिक्षण-संस्थाओं के लिए
एक साथ पाँचों खण्डों का एक सौ रुपये

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

रजिस्टर्ड नं० एल० २११७